21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम
(विशेष संदर्भ–स्त्री चरित्र प्रधान फिल्में)

बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
लखनऊ के हिन्दी विभाग में
मास्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि
हेतु प्रस्तुत

लघु शोध–प्रबन्ध

BABASAHEB
BHIMRAO
AMBEDKAR
UNIVERSITY
LUCKNOW
प्रज्ञा शील करुणा
ESTABLISHED 1996

शोध–निर्देशक
डॉ0 बलजीत कुमार श्रीवास्तव
सहायक आचार्य
हिन्दी विभाग

शोधार्थिनी
सोनम तोमर
पंजीयन क्रमांक.: 606/17
हिन्दी विभाग

हिन्दी विभाग
भाषा एवं साहित्य विद्यापीठ
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय
(केन्द्रीय विश्वविद्यालय)
विद्या विहार, रायबरेली रोड, लखनऊ–226025
2020

माता–पिता

एवं

शिक्षकगण को समर्पित

घोषणा–पत्र

मैं, **सोनम तोमर** यह घोषणा करती हूँ कि **"21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम" (विशेष संदर्भ– स्त्री चरित्र प्रधान फिल्में)** प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध मेरे द्वारा संग्रहित तथ्यों पर आधारित है तथा मास्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि हेतु प्रस्तुत यह लघु शोध–प्रबंध मेरा मौलिक कार्य है। इसे अंशतः या पूर्णतः इस विश्वविद्यालय या किसी अन्य संस्थान में किसी उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है। यह शोध कार्य मैंने **डॉ0 बलजीत कुमार श्रीवास्तव,** सहायक आचार्य, हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ के निर्देशन व मार्गदर्शन में पूरा किया है।

मैं घोषणा करती हूँ कि इस शोध कार्य को पूरा करने में मैंने विश्वविद्यालय के शोध संबंधित सभी नियमों का पालन किया है। मैं यह भी घोषणा करती हूँ कि यह शोध कार्य पूर्णतः साहित्यिक चोरी से मुक्त है।

दिनांक : 28/12/2020

शोधार्थिनी

पंजीयन क्रमांक : 606/17
हिन्दी विभाग,
भाषा एवं साहित्य विद्यापीठ
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय,
विद्या विहार, रायबरेली रोड, लखनऊ

प्रमाण पत्र

मैं प्रमाणित करता हूँ कि **सोनम तोमर** ने मेरे मार्गदर्शन में **"21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम" (विशेष संदर्भ– स्त्री चरित्र प्रधान फिल्में)** शीर्षक विषय पर हिन्दी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ उत्तर प्रदेश की मास्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि हेतु लघु शोध कार्य किया है। प्रस्तुत यह लघु शोध प्रबन्ध इनके स्वयं के द्वारा किये गये शोध का परिणाम है एवं इसे किसी अन्य उपाधि हेतु प्रस्तुत नहीं किया गया है।

यह लघु शोध प्रबन्ध *2019 में संशोधित मास्टर ऑफ फिलॉसफी (एम.फिल.) विनियम, 2016* में निर्धारित सभी आवश्यकताओं को पूरा करता है और यह विश्वविद्यालय की मास्टर ऑफ फिलॉसफी की उपाधि और मूल्यांकन के लिए योग्य है।

28/12/2020

दिनांक: 28/12/2020

शोध निर्देशक

विभागाध्यक्ष

विभागाध्यक्ष/Head
हिन्दी विभाग/Deptt. of Hindi
बाबासाहेब भीमराव अम्बेडकर विश्वविद्यालय, लखनऊ
Babasaheb Bhimrao Ambedkar University, Lucknow

प्रस्तावना

प्रस्तावना

सिनेमा जनसंचार और मनोरंजन का सशक्त माध्यम है। सिनेमा के प्रारंभिक रूपों में रंगमंच, नुक्कड़–नाटक और धार्मिक कथाओं का ग्रामीण मंचन आदि शामिल हैं। अनूठे रंग–रूप से निर्मित वर्तमान सिनेमा बहुत सी संभावनाओं और चुनौतियों के साथ हमारे समक्ष प्रस्तुत है। वैश्वीकरण के दौर में तकनीकी ने बहुत विकास किया है। प्रत्येक क्षेत्र बाजार का हिस्सा बन गया है। वर्तमान समय में कोई ऐसा क्षेत्र नहीं है जो तकनीकी से अछूता हो। डिजिटलीकरण के इस दौर ने साहित्य और सिनेमा दोनों को नई दिशायें दी है। सोशल मीडिया के माध्यम से ग्लोबल–विलेज की अवधारणा सार्थक होती दिखाई दे रही है। विश्व पटल पर साहित्य और सिनेमा का प्रचार–प्रसार और एक–दूसरे की संस्कृति को जोड़ने का कार्य बखूबी हो रहा है। सिनेमा पश्चिम की देन रहा है। भारतीय सिनेमा पर पश्चिमीकरण का प्रभाव बीसवीं सदी से ही दिखाई पड़ता है। **दादा साहेब फालके** ने पश्चिमी देशों से प्रभावित होकर ही भारत में **3 मई 1913** को **'राजा हरिश्चंद्र'** फिल्म बनाई थी। यह भारत की प्रथम मूक हिंदी फिल्म थी। सिनेमा ने समय के साथ बहुत विस्तार किया है।

भारतीय सिनेमाई गीत–संगीत और फिल्मों को विश्व के विभिन्न देशों में देखा और सुना जाता है। यह हिंदी सिनेमा की सफलता है कि उसने प्रत्येक वर्ग और विमर्श की आवाज को मुखरता से उठाया है। बीसवीं सदी के सिनेमा की बात करें तो वह इतनी व्यापकता के साथ समाज में अपनी पहचान नहीं बना पाया था। इसके बहुत से कारण भी थे तकनीकी, जनसंचार, जागरूकता का अभाव और सिनेमा के प्रति संकीर्ण सोच आदि। लेकिन 21वीं सदी के सिनेमा ने अपनी जड़ें न केवल भारत के विभिन्न हिस्सों में फैलाई हैं। बल्कि विश्व पटल पर भारत को गौरवान्वित होने का अवसर भी प्राप्त हुआ है। सिनेमा एक संदेशवाहक भी है। वह सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक आदि विषय–वस्तु के माध्यम से समाज को सचेत करता है। आज के समय में अधिकतर लोगों के पास डिजिटल माध्यम फोन, टेलीविजन, कम्प्यूटर और एल.इ.डी आदि घर पहुंच गये हैं। जिस कारण सिनेमा को भी प्रोत्साहन मिला है। दर्शक वर्ग में भी बहुत बदलाव आया है। आज के दर्शक की अपनी मांग है। सिनेमा दृश्य एवं श्रव्य के माध्यम से शिक्षित और अशिक्षित सभी वर्गों

तक पहुंचता है वर्तमान सिनेमा ने तकनीकी के नित नए रूपों का उपयोग किया है। जिसमें ओटीटी प्लेटफॉर्म्स और वेब सीरिज आदि को देखा जा सकता है। दो–तीन घंटे में खत्म हो जाने वाली फिल्म निर्देशक को कुछ अधूरी बातें लगती थीं। लेकिन वेब–सीरीज कहानी के सात–आठ एपिसोड के द्वारा एक उद्देश्यपूर्ण संदेश दर्शकों के सामने प्रस्तुत करती है। 21वीं सदी के दूसरे दशक 2020 में वैश्विक महामारी कोरोना के प्रकोप से जीवन–शैली में बहुत बदलाव हुए हैं। संक्रमण के डर से लोग सिनेमाघरों में नहीं जा पा रहे हैं। लेकिन सिनेमा ने ओटीटी के जरिए लोगों तक अपनी पहुंच बना ली है। अब प्रत्येक नई फिल्म इसी प्लेटफॉर्म के माध्यम से रिलीज की जा रही है। **'ओटीटी प्लेटफॉर्म'** (ओवर–द–टॉप) जो इंटरनेट के माध्यम से वीडियो या अन्य मीडिया से संबंधित कंटेंट को प्रदर्शित करता है। यह एक तरह के ऐप होते हैं। जिसमें टेलीविजन कंटेंट एवं फिल्में दिखाई जाती हैं। इसके लिए ग्राहकों को इन ओटीटी प्लेटफॉर्म का सब्सक्रिप्शन लेना होता है। अब घर बैठे हम सिनेमा का आनंद ले सकते हैं। यह सिनेमा का एक नया कदम है। जिसे आज के समय में बहुत सराहा जा रहा है।

मेरे लघु शोध की प्रेरणा बचपन के पसंदीदा विषयों से मिली है। जिसमें एक फिल्मों को देखना भी शामिल है। फिल्में मुझे बचपन से ही बहुत पसंद थीं। जब लघु शोध विषय चुनने का समय आया तो हिंदी साहित्य की विद्यार्थी होने के नाते मैंने हिंदी साहित्य और सिनेमा दोनों को आधार बनाकर अपना लघु शोध विषय का चयन किया। गुरुजनों के परामर्श से मुझे संबल मिला। अब चुनौती यह थी कि विषय क्या रखा जाए? भारतीय समाज में स्त्री और पुरुष एक सिक्के के दो पहलू होते हैं। दोनों के बिना समाज की कल्पना निरर्थक है। स्त्री होने के नाते स्त्री के प्रति मेरा झुकाव स्वाभाविक है। अपने समाज में स्त्रियों की स्थिति को देखते हुए मैंने हिंदी सिनेमा में स्त्री को अपने विषय का आधार बनाया। इसलिए मेरे लघु शोध का विषय **'21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम' (विशेष संदर्भ–स्त्री चरित्र प्रधान फिल्में)** रखा गया। साहित्य और सिनेमा जैसे अत्यंत महत्त्वपूर्ण कलारूपों पर शोध कार्य हिंदी में अभी भी कम ही है। हिंदी में इस प्रकार के शोध कार्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर, सिनेमा के स्वरूप एवं महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए, वर्तमान हिंदी साहित्य

और सिनेमा का अवलोकन करते हुए शोध कार्य किया गया है। 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री की क्या भूमिका है? वह किस प्रकार समाज को प्रभावित करती है? उसके समक्ष संभावनाएं और चुनौतियों का विश्लेषण स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्मों की समीक्षाओं द्वारा शोध कार्य के अंतर्गत किया गया है।

इस लघु शोध अध्ययन के माध्यम से सिनेमा के स्वरूप एवं विकास, सिनेमा विकास–क्रम, सिनेमा की अवधारणा, भारतीय सिनेमा का स्वरूप, सिनेमा और समाज का संबंध एवं प्रभाव, 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम और 21वीं सदी की स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्मों में स्त्री–अस्मिता के प्रश्नों पर विचार करते हुए उनके मार्ग में आने वाली समस्याएं और उनके समाधान का विवेचन तथा विश्लेषण किया गया है। इसे स्पष्टता देने हेतु निम्नांकित अध्यायों तथा उसमें समाविष्ट विचार बिंदुओं को नियमानुसार विवेचित किया गया है। लघु शोध कार्य की सुविधा हेतु **'21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम' (विशेष संदर्भ–स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्में)** विषय को पांच अध्यायों में विभाजित किया गया है। जो अग्रलिखित हैं–

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध के **प्रथम अध्याय 'सिनेमा की अवधारणा'** को शोधार्थिनी ने दो भागों में बांटा है। **प्रथम भाग 'हिंदी' सिनेमाः स्वरूप एवं विकास'** और **द्वितीय भाग 'भारतीय सिनेमाः स्वरूप एवं विकास'।** इस अध्याय में सिनेमा का स्वरूप विवेचित एवं विश्लेषित किया गया है सिनेमा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए, परिभाषाओं, सिनेमा के प्रकार और सिनेमा का कला पक्ष एवं तकनीकी पक्ष उजागर किया गया है। कला पक्ष में कथा, पटकथा, संवाद, अभिनय, गीत–संगीत, नृत्य आदि शामिल है और तकनीकी पक्ष में फिल्म, निर्माता–निर्देशक कैमरामैन, फिल्म शूटिंग, डबिंग, संपादन और विवरण आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध के **द्वितीय अध्याय '21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम'** को शोधार्थिनी ने चार भागों में विभाजित किया है। जिसका **प्रथम भाग 'सामाजिक मुद्दों पर आधारित फिल्में' द्वितीय भाग 'राजनीतिक मुद्दों पर आधारित फिल्में' तृतीय भाग 'पौराणिक एवं ऐतिहासिक मुद्दों पर आधारित फिल्में' और चतुर्थ भाग 'साहित्यिक कृतियों का फिल्मी रूपांतरण'।** इस अध्याय में कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों

जैसे बागबान, तलाश, बर्फी, हाईवे, टॉयलेटः एक प्रेम कथा, लुक्का–छुप्पी, बाला आदि के माध्यम से यह जानने की कोशिश की जाएगी कि सिनेमा का बहुआयामी प्रभाव समाज को किस ओर ले जा रहा है। सिनेमा का पहले से ही सामाजिक सरोकार रहा है। समाज से संबंधित घटनाओं पर आधारित फिल्मों के माध्यम से प्रस्तुति ज्ञानवर्धक साबित हुई है।

नायक, फिराक, राजनीति, आक्रोश, तलवार, गब्बर, आदि फिल्मों के जरिए राजनीति को समझा जा सकता है। तो वहीं अशोका, मंगल पांडे द राइजिंग, जोधा अकबर, पद्मावत, पानीपत केसरी आदि फिल्मों के माध्यम से भारतीय इतिहास की जानकारी प्राप्त की जा सकती है। साहित्य और सिनेमा एक दूसरे के पूरक है। साहित्यिक कृतियों को आधार बनाकर हिंदी सिनेमा में देवदास, पिंजर, खामोश पानी, मोहल्ला अस्सी जैसी फिल्में बनाई गई।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध के **तृतीय अध्याय 'स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्मों का सम्यक परिचय'** को शोधार्थिनी ने दो भागों में बाँटा है। प्रथम भाग **'21 वीं सदी के प्रथम दशक की स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्में'** एवं द्वितीय भाग **'21 वीं सदी के दूसरे दशक की स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्में'**। भारत की पहली सवाक फिल्म **'आलम आरा' 1931** में आई। इस फिल्म के द्वारा स्त्री जीवन में बहुत बदलाव आए और शनै शनै स्त्री सिनेमा की ओर आकर्षित होती गई। 21वीं सदी के दो दशकों में आई कुछ महत्वपूर्ण फिल्में जैसे–लज्जा, चांदनी बार, डोर, फैशन, कहानी, मैरी कॉम, लक्ष्मी, नीरजा, जज्बा, दंगल, मणिकर्णिका, छपाक आदि का सम्यक परिचय देते हुए स्त्री की हिंदी सिनेमा में भूमिका को दर्शाया गया है।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध के **चतुर्थ अध्याय 'स्त्री चरित्र प्रधान फिल्मों का समीक्षात्मक अध्ययन'** को शोधार्थिनी ने तीन भागों में विभाजित किया है। प्रथम भाग **'यौन–हिंसा व उत्पीड़न पर आधारित फिल्में'**, द्वितीय भाग **'महिला सशक्तीकरण पर आधारित फिल्में'** और तृतीय भाग **'समसामयिक मुद्दों पर आधारित फिल्में'**। इस अध्याय में 21वीं सदी की कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों की समीक्षा उपर्युक्त विभाजन के आधार पर की गई है। जिसमें **लज्जा (2001), फैशन (2008), मैरी कॉम (2014),**

लक्ष्मी (2014), पिंक (2016) सांड की आँख (2019), छपाक (2020), थप्पड़ (2020) को आधार बनाया गया है।

समय के साथ समाज के बदलाव की झलकियाँ सिनेमा के पर्दे पर साफ नजर आती हैं। इतना सब होने के बावजूद उन लोगों की कमी नहीं है, जो फिल्मों को गंभीरता से नहीं लेते, उन्हें पलायनवादी और काल्पनिक कहकर खारिज कर देते हैं। स्त्री का सिनेमा में हस्तक्षेप आधी–आबादी के लिए प्रोत्साहित कदम है। निर्देशकों ने सामाजिक सरोकारों से जुड़ी यादगार फिल्में बनाई तो वहीं समाज में नारी की दशा और समस्याओं पर भी संवेदनशील फिल्में बनाई गई हैं। इन फिल्मों के नारी पात्रों को उस दौर की नायिकाओं ने अपने अभिनय–कौशल से इतना जीवंत बना दिया कि यह फिल्मों के पात्र न लगकर समाज का हिस्सा लगने लगते हैं। सौ वर्षों से अधिक की इस यात्रा में नारी का प्रस्तुतीकरण और उसका समाज पर गहरा प्रभाव रहा है। आम नारी सदैव अपने दौर की नायिकाओं से आकर्षित और प्रभावित रही है। यह प्रभाव चाहे नायिकाओं द्वारा निभाए पात्रों का हो या उनकी जीवनशैली का।

प्रस्तुत लघु शोध–प्रबंध के **पंचम अध्याय** को शोधार्थिनी ने **'उपसंहार'** के रूप में रखा है। जिसका उद्देश्य लघु शोध के महत्वपूर्ण बिंदुओं से अवगत कराते हुए शोध–लक्ष्य के बारे में बताना है। अंततः उपसंहार के अंतर्गत समस्त अध्यायों पर समेकित दृष्टि से विचार करते हुए कतिपय महत्वपूर्ण तथ्यों को विशेष रूप से रेखांकित करने का प्रयास किया गया है। इसके साथ ही साथ **'21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम' (विशेष–संदर्भ स्त्री चरित्र–प्रधान फिल्में)** पर दृष्टि निक्षेप करते हुए उनकी विशेषताओं एवं उपलब्धियों को रेखांकित किया गया है। इस अध्याय में संपूर्ण शोध कार्य को एक सूत्र में सुसंबद्ध रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। जिसके अंतर्गत संपूर्ण लघु शोध–प्रबंध की उपलब्धियों को सार रूप दिया गया है।

उपसंहार के उपरांत परिशिष्ट में आधार ग्रंथ, सहायक ग्रंथ, फिल्मों की सूची, पत्र–पत्रिकाओं और सहायक दृश्य–श्रव्य स्रोत की सूची दी गई है।

मैं सर्वप्रथम अपने लघु शोध निर्देशक **डॉ. बलजीत कुमार श्रीवास्तव** जी का विशेष रूप से आभार प्रकट करती हूं। जिनके कुशल निर्देशन में यह लघु शोध–प्रबंध अपनी पूर्णता को प्राप्त हुआ है। उनके असीम धैर्य, परिश्रम एवं स्नेहयुक्त पथ–प्रदर्शन के परिणामस्वरूप यह लघु शोध–प्रबंध अपने अंतिम लक्ष्य को प्राप्त कर सका है। उन्होंने शोध प्रबंध के विषय निर्धारण से लेकर विषय की रूपरेखा तैयार करने तथा लघु शोध–प्रबंध के प्रत्येक शब्द को मूल्यांकन की कसौटी पर रखकर प्रामाणिकता प्रदान की है। इस हेतु मैं उनकी आजीवन ऋणी रहूंगी।

हिंदी विभाग, बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय के विभागाध्यक्ष डॉ. सर्वेश कुमार सिंह एवं विभाग के अन्य सदस्यों डॉ. प्रीति राय, डॉ. शिवशंकर यादव, डॉ. नमिता जैसल, के प्रति भी मैं अपनी पुनीत कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं। जिनका सहयोग एवं आशीर्वाद मुझे निरंतर प्राप्त होता रहा है।

मैं अपनी परम पूज्य माता श्रीमती उषा देवी एवं पूज्य पिता श्री राजकुमार तोमर और अनुज नितिन तोमर व अनमोल तोमर की भी आजीवन ऋणी रहूंगी। जिनके कठिन परिश्रम, अथक प्रयासों, मंगल–कामना एवं शुभाशीर्वाद के परिणामस्वरुप यह शोध कार्य पूर्ण हो सका है। अतः उनके प्रति अपनी हार्दिक कृ तज्ञता ज्ञापित करती हूं। उन्होंने मुझे सदैव आगे बढ़ने एवं संघर्ष करने के लिए प्रोत्साहित किया। मैं परिवार के समस्त सदस्यों का आभार प्रकट करती हूं। साथ ही अन्य मित्रों में दीप्ति यादव, अनीता, अभिलाषा, रॉक्सी, शर्मानंद, सतीश प्रताप सिंह, विनीत कुमार पाण्डेय, अमृत तिवारी एवं समस्त स्नेहिलजनों का आभार व्यक्त करती हूं। जिन्होंने वैश्विक महामारी कोरोना के रहते मेरे लघु शोध–प्रबंध हेतु सलाह देने और जाँचने में मदद की।

मैं बाबा साहेब भीमराव अंबेडकर विश्वविद्यालय के गौतम बुद्ध केंद्रीय पुस्तकालय अध्यक्ष डॉ सुनील गोरिया एवं समस्त कर्मचारियों का हार्दिक धन्यवाद ज्ञापित करती हूं। जिन्होंने लघु शोध–प्रबंध पूर्ण करने में यथासंभव सहयोग प्रदान किया।

मैं विभागीय कर्मचारी जीत कुमार जी का भी आभार व्यक्त हूं। जिन्होंने मेरे लघु शोध कार्य में तकनीकी जानकारी व सलाह समय–समय पर मुझे दी।

अंत में मैं अपने समस्त गुरुजनों के सम्मुख नतमस्तक रहते हुए अपना यह लघु शोध–प्रबंध सुधीजनों के सम्मुख परीक्षणार्थ प्रस्तुत करती हूं।

शोधार्थिनी

सोनम तोमर
हिंदी विभाग
बाबासाहेब भीमराव अंबेडकर
विश्वविद्यालय, लखनऊ

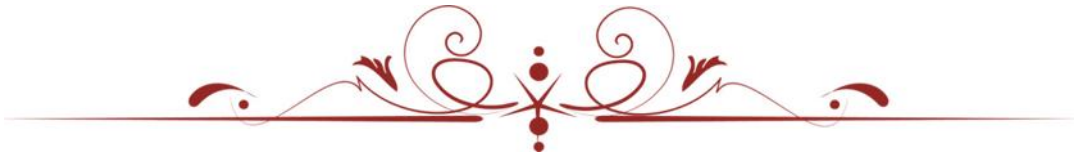

प्रथम अध्याय
सिनेमा की अवधारणा

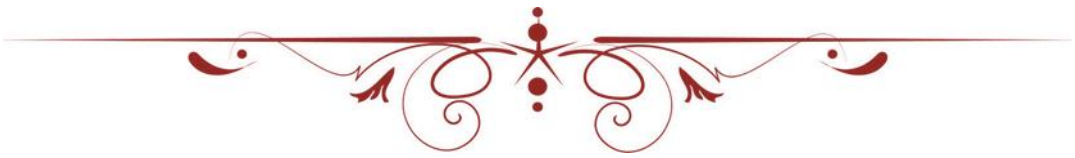

प्रथम अध्याय
सिनेमा की अवधारणा

नाट्यकला का विकास सर्वप्रथम भारत में ही हुआ। स्वतंत्रता से पूर्व अंग्रेजों का प्रभुत्व देश में स्थापित होने पर उनकी वस्तुओं और परंपराओं को भारत ने अपनाया था। इसी क्रम में मनोरंजन के निमित्त पाश्चात्य नाटकों का भी प्रवेश हुआ। उन लोगों ने अपने नाटकों के अभिनय के लिए यहाँ अभिनयशालाओं का संयोजन किया, जो थिएटर के नाम से अधिक विख्यात हुए। इस ढंग का पहला थिएटर प्लासी युद्ध के बहुत पहले कलकत्ता में बन गया था। इस प्रकार पाश्चात्य रंगमंच के संपर्क में सबसे पहले बंगाल आया और इसने पाश्चात्य थिएटरों के अनुकरण पर अपने नाटकों के लिए रंगमंच को नया रूप दिया। दूसरी ओर मुंबई में पारसी लोगों ने इन विदेशी अभिनयशालाओं के अनुकरण पर भारतीय नाटकों के लिए एक नए ढंग की अभिनयशाला को जन्म दिया। पारसी नाटक कंपनियों ने रंगमंच को आकर्षक और मनोरंजक बनाकर अपने नाटक प्रस्तुत किए। जिसका प्रभाव आज तक हिंदी सिनेमा पर बना हुआ है।

चित्रपट (सिनेमा) के आ जाने से रंगमंच का स्थान बहुत सीमित हो गया है। विशाल प्रेक्षागृहों में केवल एक छोटा सा रंगमंच बना देना पर्याप्त समझा जाता है। आवश्यकतानुसार एक दो पर्दे भी लगाए जाते हैं। दर्शकों के लिए अधिक स्थान होने के कारण उपर्युक्त संवातन, ध्वनि–नियंत्रण एवं अन्य व्यवस्थाओं की ओर अधिक ध्यान दिया जाता है। अब तो हजारों दर्शकों के लिए बड़ी सुखप्रद कुर्सियों से युक्त प्रेक्षागृह सभी बड़े नगरों में बनते हैं।

सिनेमा का आकर्षण अधिक होने पर भी पाश्चात्य देशों में नाटकों के लिए उपर्युक्त रंगमंच बनाने के काफी प्रयास हो रहे है। इनकी उपयोगिता मनोरंजन की दृष्टि से कम, शिक्षा की दृष्टि से अधिक समझी गई है। शैक्षणिक रंगमंच में अमेरिका संसार में अग्रणी है। अमेरिकन शैक्षणिक रंगमंच की शाखाएँ बहुत से विश्वविद्यालयों में खुली हैं। भारत में भी सिनेमा का प्रचार–प्रसार बढ़ रहा है। प्रसून सिन्हा की दृष्टि

में, "सिनेमा कहानी कहने का प्रभावशाली माध्यम है। अन्य कई कलाओं की तरह सिनेमा भी देश–काल, सामाजिक संरचना और व्यक्ति की समस्याओं से सीधा जुड़ा रहता है। सिनेमा कला की कई विधाओं जैसे साहित्य, चित्र, कला, संगीत, नृत्य आदि का मिला–जुला रूप है। अर्थात् सिनेमा समग्रता का दूसरा नाम है। सिनेमा विश्व की आधुनिक कलाओं की तरह मनुष्यों की कलात्मक सोच और उसकी विराट चेतना से निकली अभिव्यक्ति का सशक्त तकनीकी माध्यम है।"[1]

सिनेमा में साहित्य और संस्कृति, ज्ञान और विज्ञान, आदर्श और यथार्थ, संगीत और सौंदर्य, अभिनय और कला का अद्‌भुत समन्वय है। सिनेमा सामाजिक नैतिकता को स्वीकार भी करता है और उन्हें तोड़ता भी है। सिनेमा किसी घटना और विचार को मनोरम ढंग से प्रस्तुत कर मनुष्य के अंतःकरण को छूकर उसे प्रभावित करता है। सामाजिक परिवर्तन, लोकजागरण और बौद्धिक क्रांति की दिशा में सिनेमा का अहम योगदान रहा है। आज यह अभिव्यक्ति का ऐसा प्रभावी माध्यम बन चुका है जो सभी उम्र के लोगों को सोचने पर मजबूर कर रहा है। सिनेमा अन्याय, अछूतोद्धार, नारी जागरण, राष्ट्रीय–एकता, शोषण, भाषावाद, क्षेत्रवाद, सांप्रदायवाद और जातिवाद जैसी सामाजिक समस्याओं को विषय बनाकर लोगों को जागृत करने का प्रयास कर रहा है।

सिने निर्देशक ऋत्विक घटक के अनुसार, "फिल्म एक दृश्य क्रम माध्यम है– यह एक अधूरी बात है। फिल्म केवल एक दृश्य माध्यम ही नहीं है। वह एक श्रव्य–दृश्य माध्यम है और उसमें दोनों पक्षों का समान महत्व है। कई और भी तत्व हैं। फिल्मकार की तपस्या ही यही होनी चाहिए कि वह इस प्रकार अलग–अलग तत्वों को मेल करवाए कि देखने वाले तक उनका संयुक्त प्रभाव पहुंच सके।"[2]

हिंदी सिनेमा न सिर्फ भारत बल्कि विश्व का सबसे बड़ा उद्योग जगत है। प्रवासी भारतीय इसके बहुत बड़े दर्शक हैं। इसकी लोकप्रियता रूपकों, आख्यानों, गीत–संगीत, नृत्य, रोमांस, विषयों और दृश्यों के आकर्षण से ही संभव हुई है। "सिनेमा अपने आरंभ से ही मनुष्य के कौतुक, आकर्षण, जिज्ञासा और मनोरंजन का

[1] भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, प्रसून सिन्हा, पृष्ठ संख्या 16
[2] हिंदी सिनेमा का सच, संपादक, शंभूनाथ संपादन, मृत्युंजय अंक–17, प्रकाशन वर्ष 1997, पृष्ठ संख्या 37

विषय रहा है। जब मूक फिल्मों का दौर था तब भी जो कहानियां चुनी जाती थीं वह असत्य पर सत्य की विजय और शत्रुता पर बंधुत्व की विजय का प्रतीक थीं। सन 1911 में लाइफ ऑफ क्राइस्टे देखकर धुंडीराज गोविंद फाल्के उर्फ दादासाहेब फाल्के इस कदर प्रभावित हुए कि उनकी नींद उड़ गई और उन्होंने श्रीकृष्ण के जीवन पर फिल्म बनाने का निश्चय किया। फिर परिवार की सहमति से राजा हरिश्चंद्र पर पहली फिल्म बनाई। इसका प्रमुख कारण यह भी रहा कि सिनेमा न सिर्फ मनोरंजन या शिक्षा का माध्यम बना बल्कि लोगों के लिए आदर्श जीवन जीने का, आदर्श सामाजिक व्यवहार का, जीवन की उच्च आदर्शों और मूल्यों को बचाए रखने और स्थापित करने का मुख्य साधन भी बना। शुरुआती आदर्श मूल्यों को स्थापित करने के लिए सिनेमा हमेशा प्रतिबद्ध रहा है।"[3]

सिनेमा आज के युग में सबसे सशक्त और सुलभ जनमाध्यम है। हमारे रीति–रिवाज, रहन–सहन, खान–पान से लेकर चिंतन तक सिनेमा की पहुंच, आज अपनी विलक्षण पहचान के साथ हमारे सामने उपस्थित है। समूची मानवीय सभ्यता की सच्चाई जिस माध्यम से आज हमारे सामने आ रही है। उनमें सिनेमा अग्रणी है। सिनेमा जनसंचार के सशक्त माध्यम के रूप में और मानवीय संवाद बनाए रखने के लिए आज के समय की सबसे बड़ी जरूरत है। फिल्म एक साहित्य की तरह ही है, जो अपने आप में कई विधाओं और कलाओं को समेटकर वर्तमान समय में संप्रेषण का प्रभावशाली माध्यम बना हुआ है।

चित्रा वी०एस० के अनुसार, "सिनेमा एक लोकप्रिय जनसंचार माध्यम है। दुनिया की सभी महत्वपूर्ण भाषाओं में फिल्में बनती हैं। फिल्म मनोरंजन का माध्यम होने के साथ–साथ सामाजिक और सांस्कृतिक उत्पाद भी है। फिल्मों के माध्यम से जो जीवन प्रस्तुत किया जाता है वह जीवन चाहे जितना काल्पनिक और अयथार्थ क्यों न हो फिर भी उसका अपने समय और समाज से किसी न किसी तरह का रिश्ता जरूर होता है।"[4]

---

[3] सिनेमा और सामाजिक सरोकार, संपादक डॉ दयानंद गौतमध डॉक्टर कामना महिंदु, पृष्ठ संख्या 17

[4] भारतीय सिनेमा में भारतीय संस्कृति, संपादिका, डॉ उषा कुमारी, के०पी० प्रकाशन, अमन प्रकाशन, संस्करण प्रथम 2018, पृष्ठ संख्या 51

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा ने अपना चहुँमुखी विकास किया है। आज उसकी पहुंच समाज के प्रत्येक वर्ग और विषय तक बन गई है। आने वाले समय में भी सिने जगत तकनीकी माध्यम से अपना अधिक से अधिक प्रचार–प्रसार करने को आतुर है।

1.1. हिंदी सिनेमाः स्वरूप एवं विकास

28 दिसंबर 1895 को फ्रांस की राजधानी पेरिस में जब पहली बार ल्यूमिएर बंधुओं ने गतिशील चित्रों को प्रदर्शित किया तो उन्हें भी इस बात का अंदाजा नहीं था कि विकास की इस प्रक्रिया में समयानुसार परिवर्तित होकर सिनेमा समूची दुनिया में इतनी तेजी के साथ चल जाएगा। ल्यूमिएर बंधु जब भारत आए तो उस समय भारत परतंत्र था और भारत में महारानी विक्टोरिया के प्रतिनिधि लॉर्ड एलगिन द्वितीय का समय था। ये भारत में अकाल और महामारी की पीड़ा से जूझ रहे भारतीय समाज की तस्वीर लेने आए थे।

7 जुलाई 1896 को ल्यूमिएर बंधुओं ने मुंबई के वॉटसन होटल में पहली बार अपने द्वारा बनाए गए गतिशील चित्रों को प्रदर्शित किया। यह नावेल्टी थिएटर में लगी। भारतीय लोगों ने खूब सराहा। छाया चित्रों का भारत में काफी प्रभाव पड़ा। सन् 1899 ईसवी में हीरालाल सेन ने रॉयल बाइस्कोप की स्थापना की। इसके माध्यम से ज्यादा से ज्यादा विदेशी फिल्मों का प्रदर्शन प्रारंभ किया। मूक सिनेमा को भारतीय सिनेमा का आदिकाल कहा जा सकता है। इस दौर में सिनेमा अपने स्वरूप को लेकर संघर्ष कर रहा था। छायाचित्र और वृतचित्रों का निर्माण हो रहा था। भारत में फिल्मों के जनक धुंडिराज गोविंद फालके थे। इन्हें दादा साहेब फालके भी कहा जाता था। दादा साहेब ने **पहली फिल्म सन् 1913 में 'राजा हरिश्चंद्र'** का निर्माण किया। इस फिल्म को भारत की पहली फिल्म माना गया। "सन् 1913 में भारत में भारतीय फिल्म का श्रीगणेश हुआ। जिसके जनक धुंडीराज गोविंद फालके (दादा साहेब फालके) और फिल्म थी 'राजा हरिश्चंद्र'। जिसका प्रदर्शन 21 अप्रैल को हुआ एवं फिल्म प्रदर्शित हुई 3 मई 1913 को मुंबई के कोरोनेशन थियेटर में।"[5]

[5] हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष, दिलचस्प, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2018, पृष्ठ संख्या 13

"इस प्रकार दादा साहेब फालके को हिंदुस्तान के प्रथम फिल्म निर्माता–निर्देशक बनने का गौरव हासिल हुआ।"[6] मूक दौर के प्रमुख फिल्मकारों में हरीशचंद्र सखाराम भाटवेडकर उर्फ सावेदादा (1868–1958), हीरालाल सेन (1866–1917), दादा साहब फालके (1870–1940), जमशेदजी मदन (1865–1923), धीरेंद्र नाथ गांगुली (1893–1978), बाबूराव पेंटर (1882–1954), द्वारकादास एन संपत (1884–1958), भोगीलाल दवे (1898–1975), आदि हैं। इन सभी फिल्मकारों ने मूक युग में अपनी फिल्मों के माध्यम से अहं योगदान दिया है। मूक दौर में बनने वाली कुछ प्रमुख फिल्में हैं, 'राजा हरिश्चंद्र' (1913), 'श्रीकृष्ण जन्म' (1918), 'कालिया मर्दन' (1919), 'शकुंतला' (1920), 'भक्त विदुर' (1921), 'वीर अभिमन्यु' (1922), 'बीसवीं सदी' (1924), 'प्रेम सन्यास' (1925), 'गोपाल कृष्ण' (1929), 'सिनेमा गिरी वाला' (1930) आदि हैं।

प्रथम विश्वयुद्ध की विभीषिका के बाद पश्चिमी देश आर्थिक समस्या से जूझने लगे। इस वजह से सबसे ज्यादा नुकसान उद्योगों का हुआ। फिल्म उद्योग भी इससे अछूता नहीं रहा। "मंदी का वह महासंकट धीरे–धीरे करीब–करीब पूरी दुनिया में छा गया था। फिल्मों के दर्शक धीरे–धीरे कम होने लगे थे। दर्शकों की संख्या इतनी कम हो गई थी कि कई सिनेमा हॉल बंद कर दिए गए।"[7]

भारत में पहली बोलती फिल्म **'आलमआरा' (1931)** आर्देशिर ईरानी के निर्देशन में बनी थी। 'आलमआरा' फिल्म का निर्माण 'इंपीरियल फिल्म कंपनी' ने किया था। "भारत की पहली सवाक फिल्म 'आलमआरा' जिसके निर्माता इंपीरियल मूवीटोन के आर्देशिर ईरानी थे। बम्बई के मैजिस्टिक थिएटर में 14 मार्च 1931 को प्रदर्शित हुई थी।"[8] इस दशक में बाबूराव पेंटर, पीसी बरुआ दामले, भालजी पेंढारकर, सोहराब मोदी, फत्तेलाल और व्ही० शांताराम आदि निर्माता–निर्देशकों ने 'दुनिया न माने', 'आदमी', 'अछूतकन्या', 'पुकार', 'सावरकरी पाश' और 'देवदास' जैसी महत्वपूर्ण फिल्में बनाई।

[6] समय सिनेमा और इतिहास, राजीव श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 8
[7] समय सिनेमा और इतिहास, संजय श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 17
[8] हिंदी सिनेमा आदि से अनंत, संपादक प्रहलाद अग्रवाल, भाग् एक,पृष्ठ संख्या 50

स्वतंत्र भारत की आजादी के साथ विभाजन देश के लिए गहरा आघात था। इस घटना ने स्वतंत्रता उत्साह को धीमा कर दिया था। जिसका प्रभाव हिंदी सिनेमा पर भी पड़ा। हिंदी सिनेमा के इस कालखंड में निरंतर ऐसी फिल्मों का निर्माण हुआ जो एक ओर नेहरूयुग की आशावादिता को प्रकट करती थी और दूसरी ओर समकालीन विषम परिस्थितियों से उपजी मोहभंग व विद्रुपता की यथार्थता रेखांकित करती थी।[9] "आजादी के बाद दो सालों में राष्ट्रीय संवेदना से संयुक्त स्वतंत्रता आंदोलन के महापुरुषों पर केंद्रित कई फिल्मों का निर्माण हुआ। इनमें गांधी जी पर एक साथ तीन फिल्मों का निर्माण हुआ। जिसमें सबसे बेहतर बापू की अमर कहानी मानी जाती है। इसी दौरान क्रांतिकारी भगत सिंह के जीवन पर आधारित फिल्म शहीद (1948) बनी।"[10]

सन् 1951 में निर्मित 'आवारा' फिल्म का निर्माण 'आर के फिल्म्स' के बैनर तले हुआ। इस फिल्म में आजाद भारत के नवसामाजिक संगठन और अमीरी–गरीबी के अंतर को दर्शाया गया है। वही सन् 1952 में 'बैजू बावरा' फिल्म बनी यह फिल्म ऐतिहासिक पृष्ठभूमि पर आधारित थी। सन् 1953 में निर्मित प्रमुख फिल्में हैं– निर्देशक राजा नवाथे की आह, सोहराब मोदी निर्देशित 'झांसी की रानी', अमित चक्रवर्ती निर्देशित पतिता, कमल अमरोही निर्देशित 'दायरा', विमलराय निर्देशित 'दो बीघा जमीन' आदि थीं। 'दो बीघा जमीन' फिल्म में मुख्य अभिनय बलराज साहनी और निरुपमा राय ने निभाया था। यह फिल्म कृषक जीवन की समस्याओं पर केंद्रित थी। सन् 1959 ईसवी में निर्देशक विमल राय की अनोखी और प्रगतिशील फिल्म 'सुजाता' बनी। इस फिल्म में मुख्य भूमिका नूतन और सुनील दत्त ने निभाई। इस साल की सबसे चर्चित फिल्म 'कागज के फूल' थी। इस फिल्म का निर्देशन गुरुदत्त ने किया था। प्रख्यात फिल्म **'मुगल–ए–आजम' 1960** में बनी। इस फिल्म के निर्माण में लगभग दस वर्ष लगे और कुल लागत एक करोड़ आई थी। इस फिल्म की कहानी ऐतिहासिक है। फिल्म में नायक दिलीप कुमार और मधुबाला थी।

[9] साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध, नीरा जलक्षेत्रि, पृष्ठ संख्या 19
[10] समय सिनेमा और इतिहास, संजीव श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 44

"हम कह सकते हैं कि 1960 के पूर्व दशक में प्रारंभ हुए मूल्यों की स्थापना का वर्ष था। पिछले दशक में आने वाले सितारे, निर्देशक, संगीतकार एवं अन्य तकनीशियन इस दशक में पूरी तरह से स्थापित हो गए।"[11] हिंदी सिनेमा के लिए सन् 1957 अत्यंत महत्त्वपूर्ण वर्ष रहा। इस वर्ष मनोरंजक हिंदी फिल्मों के साथ ही चार ऐसी फिल्में बनी, जो हिंदी सिनेमा के इतिहास में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। इन फिल्मों में व्ही शांताराम की 'दो आंखें बारह हाथ', महबूब खान की 'मदर इंडिया', बी आर चोपड़ा की 'नया दौर' और गुरुदत्त की फिल्म 'प्यासा' है।

"सन् 1963 में सुप्रसिद्ध निर्देशक विमल राय के निर्देशन में **'बंदनी'** फिल्म बनी। यह फिल्म नारी जीवन की समस्या को उभारती है। 'बंदनी' हमें बताती है कि "यदि मनुष्य में जीवन के प्रति सच्ची लगन हो तो मार्ग में आने वाली बाधाओं का भी वह साहस पूर्वक सामना करते हुए अपनी मंजिल पर पहुंच सकता है कल्याणी इस सच का जीती–जागती सबूत है।"[12]

हिंदी सिनेमा में समानांतर सिनेमा का आरंभ 1969 में प्रदर्शित तीन हिंदी फिल्मों से माना जाता है। जिसमें निर्देशक मृणाल सेन की 'भुवन शोम', मणि कौल की 'उसकी रोटी' और बासु चटर्जी की 'सारा आकाश' जैसी फिल्में हैं। यहीं से मुख्यधारा की व्यावसायिक फिल्मों के समानांतर प्रस्तुति में कलात्मक स्तर के साथ कला फिल्मों की नयी धारा जो शनैः शनैः प्रतिबद्ध निर्देशकों–निर्माताओं और कलाकारों के सहयोग से एक आंदोलन के रूप में विकसित होकर आगे बढ़ी। "सिनेमा की इसी प्रभावशाली प्रस्तुति के कारण विदेशों में भारतीय सिनेमा का आकर्षण बढ़ने लगा था। कई अंतरराष्ट्रीय फिल्म समारोह में तत्कालीन धारा की अनेक कलात्मक फिल्मों को विभिन्न पुरस्कारों से सम्मानित भी किया गया था। इन फिल्मों के प्रति विदेशी प्रबुद्ध सिनेमा दर्शकों का खास वर्ग भी तेजी से आकर्षित होने लगा था।"[13] सन् 1969 में निर्देशक मणि कौल की फिल्म 'उसकी रोटी' मोहन राकेश की लघुकथा पर आधारित थी। इसी वर्ष निर्देशक बासु चटर्जी ने सारा आकाश फिल्म

[11] बहुवचन, अंतरराष्ट्रीय त्रैमासिक पत्रिका, अंक–39 अक्टूबर–दिसंबर, 2013, संपादक अशोक मिश्र, पृष्ठ संख्या 42

[12] हिंदी सिनेमा आदि से अनंत, प्रहलाद अग्रवाल, भाग 2, प्रश्न संख्या 160

[13] भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, प्रसून सिन्हा, पृष्ठ संख्या 127

बनाई जो राजेंद्र यादव के उपन्यास 'सारा आकाश' पर आधारित थी। सन् 1973 में सुप्रसिद्ध फिल्म निर्देशक श्याम बेनेगल ने 'अंकुर' फिल्म से फिल्मी दुनिया का सफर शुरू किया तो इसी वर्ष अभिनेत्री शबाना आजमी ने भी अपने फिल्मी कैरियर की शुरुआत की थी। सन् 1989 में निर्देशक बुद्धेवदास गुप्ता की 'बाघ–बहादुर', परवेज मेरवान की 'पारसी', मणि कौल की 'नजर', सैयद अख्तर मिर्जा की 'सलीम लंगड़े पे मत रो', इस वर्ष की महत्वपूर्ण फिल्में रही।

सन् 1990 में गोविंद निहलानी की 'दृष्टि', गिरीश कासरवल्ली की 'एक घर' कुमार शाहानी की 'कस्बा', 'तपन सिन्हा' की 'एक डॉक्टर की मौत' आदि प्रमुख फिल्में बनी। सन् 1991 में मुंबई की झोपड़पट्टी में रहने वाले लोगों की समस्याओं को केंद्र में रखकर सुधीर मिश्रा ने 'धारावी' फिल्म बनाई। निर्देशक अरुण मिश्रा ने हरिजनों की समस्याओं को लेकर दीक्षा फिल्म बनाई। सन् 1992 में धर्मवीर भारती के उपन्यास 'सूरज का सातवाँ घोड़ा' पर केंद्रित श्याम बेनेगल ने इसी नाम से फिल्म बनाई थी उपर्युक्त हिंदी फिल्में समानांतर हिंदी सिनेमा की श्रृंखला में विशेष रूप से उल्लेखनीय रही हैं।

"सन् 1969 से आरंभ हुआ और 1992 तक लगभग समाप्त हो चुके इस नई धारा की समानांतर फिल्मों ने सिनेमा को एक खास दर्शक वर्ग और सृजनात्मक सोच अवश्य दी। लेकिन सिनेमा की इस नई धारा को प्रतिबद्ध दर्शकों का विशाल समूह कभी नहीं मिल पाया जिससे अंततः यह आंदोलन एक दूरी तय करके ठप हो गया। व्यवसायिक सिनेमा की एक बड़ी वितरक वर्ग को इन फिल्मों के वितरण के प्रति हमेशा उदासीन ही देखा गया।"[14] टेलीविजन एवं संचार के अन्य साधनों में क्रांतिकारी परिवर्तन नब्बे के दशक में ही हुए। उपग्रह संचार तंत्र की सहायता से भारत में पूंजीवादी संस्कृति की सोच का प्रचार–प्रसार तीव्रता से बड़ा जिसमें सिनेमा ने भी विशिष्ट भूमिका का निर्वाह किया है।

सन् 1991–1992 के पश्चात् भारत में वैश्विक संस्कृति के प्रचार–प्रसार का मुख्य कारण, इस वर्ष में पीवी नरसिम्हा राव सरकार द्वारा लिया गया वह निर्णय,

[14] भारतीय सिनेमा एक अनंत यात्रा, प्रसून सिन्हा, पृष्ठ संख्या 138

जिसने विदेशी कंपनियों के लिए भारत सरकार भारत के द्वार खोले थे। फलस्वरूप भारत में अत्यंत तीव्रता व व्यापक स्तर पर विदेशी निगमों द्वारा पूंजी निवेश हुआ एवं बाजारवाद व उपभोक्तावाद की स्थापना हुई। "तत्कालीन परिदृश्य में संचार के विभिन्न माध्यमों के साथ हिंदी सिनेमा ने भी उपभोक्तावाद की स्थापना पर विशेष बल दिया।"[15] बीसवीं सदी के अंतिम दशक में गंभीर विषयों जैसे– आतंकवाद, नक्सलवाद, सांप्रदायिकता, हिंसा और नारी उत्पीड़न पर केंद्रित फिल्मों पर जोर दिया गया। 'रोजा', 'बॉम्बे', 'नसीम', 'द्रोहकाल', 'दिल से', 'माचिस', 'सरफरोश', 'मां', 'फिजा', 'गदर', आदि फिल्में इन्हीं विषयों पर केंद्रित हैं।

हाल के वर्षों में हिंदी सिनेमा में निर्मित फिल्मों के कथ्य व भारतीय समाज में व्याप्त उथल–पुथल पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भूमंडलीकरण के पश्चात सांप्रदायिकता आतंकवाद को केंद्र में रखकर जितनी प्रतिशत फिल्मों का निर्माण पिछले बीस वर्षों में हुआ है उतना आजादी के बाद के 40 वर्षों में भी नहीं हुआ। इसी दशक में हिंदी सिनेमा में आधी आबादी (स्त्री) के साथ–साथ दलितों की आवाज भी मुखर होने लगी थी। ऐसी फिल्मों में 'माया', 'मेमसाहब', 'दामिनी', 'समर', 'क्या कहना', 'दीक्षा' आदि फिल्में प्रमुख है।

हॉलीवुड फिल्मों के संपर्क में आने के बाद सिनेमा तकनीकी तौर पर बहुत समृद्ध हुआ है। सिनेमा के क्षेत्र में जहां एक और मल्टीप्लेक्स कल्चर ने दस्तक दी तो दूसरी ओर बाजारवाद ने अर्थ संरचना को अपनी गिरफ्त में लेकर युवा पीढ़ी में उपभोक्तावादी संस्कृति को बढ़ावा दिया। इस उपभोक्तावादी संस्कृति ने फिल्म उद्योग से जुड़े फिल्मकारों विशेषकर युवा फिल्मकारों को सिने जगत आर्थिक रूप से फायदे का सौदा लगाने लगा। ये सवा सौ करोड़ की आबादी में अब ऐसी फिल्मों का निर्माण भी स्वस्थ होकर करने लगे जो डबल मीनिंग है। इस तरह की फिल्में भी सिनेमाघरों में दर्शकों को प्रभावित करने में सफल हो रही हैं। ऐसी फिल्में हैं– 'याराना', 'फायर', 'जिस्म', 'वाटर', 'मर्डर', 'दी ट्रेन', 'सलाम नमस्ते', 'चमेली', 'चांदनी बार' आदि है। "इन फिल्मों के विषय समलैंगिकता, लिव इन रिलेशन, वेश्यावृत्ति, अनैतिक संबंध आदि हैं, जो कहीं न कहीं भारतीय समाज और संस्कृति पर आघात

[15] साहित्य और सिनेमा के अंतर्संबंध नीरा जलक्षेत्रि, पृष्ठ संख्या 62

करते हैं। परंतु भारत का बदलता हुआ समाज किसी न किसी रूप में इन फिल्मों की ओर स्वीकारोक्ति प्रदान करता हुआ नजर आता है।"[16]

वैश्वीकरण के बढ़ते प्रभाव के कारण हिंदी सिनेमा में प्रवासी भारतीयों को भी केंद्र में रखकर उनके प्रेम व पारिवारिक रिश्तो का ताना–बाना बुना जाने लगा तथा ऐसी फिल्मों का निर्माण शुरू हुआ जो सामान्य जीवन से परे है। "एन०आर०आई० प्रेम ग्लोबलाइजेशन के बाद के शहरी मूल्यों का सफल बिजनेस मॉडल है। आज हर तरफ बाजार ही प्रभावी है। नये मनोरंजन बाजार की एक विशेषता उसका बाकी से अनूठा देखना भी है आकर्षित करने की क्षमता उसकी यू०एस०पी० बन जाती है यही कारण है कि सामान्य जीवन से परे चकाचौंध से भरी फिल्में जनमानस पर छा जाती है।"[17]

फिल्मकार यश चोपड़ा, करण जौहर, फराह खान, संजय लीला भंसाली ने ऐसी भी फिल्मों का निर्माण किया है जो इस प्रकार हैं– कभी खुशी कभी गम, दिल चाहता है, कभी अलविदा ना कहना, कल हो ना हो आदि है। इस सदी के सिनेमा में एक और परंपरा का विकास हुआ रिमिक यानी पूर्व में बन चुकी फिल्मों का दोबारा प्रस्तुतीकरण। "इसकी शुरुआत 'हम आपके हैं कौन' से मानी जा सकती है। राजश्री प्रोडक्शन के बैनर तले बनी यह फिल्म बडजात्या परिवार की नई पीढ़ी की पेशकश थी। इससे पहले यही कहानी 1980 में 'नदिया के पार' में देखी जा चुकी थी। 'शोले', 'डॉन', 'चंद्रमुखी', 'साहब बीवी और गुलाम', 'कागज के फूल', 'उमराव जान', 'हिम्मतवाला' आदि फिल्में रिमिक्स परंपरा की उपज है।"[18]

इस तरह हम देखते हैं कि 21वीं सदी के सिनेमा में कथ्य, शिल्प और तकनीकी आदि परिवर्तन हुए हैं। 21वीं सदी के प्रथम दशक और उसके बाद ऐसी कई महत्वपूर्ण फिल्में बनी जो हमारे सामाजिक ताने–बाने में व्याप्त बुराइयों को उजागर करती हैं और हमारी व्यवस्था पर प्रश्न चिह्न खड़ा करती हैं। यही वह सिनेमा है जो हमें जोड़ता है। सोचने पर मजबूर करता है। समाज और देश के प्रति अपने

[16] सामाजिक परिदृश्य और व्यावहारिक अंतर्मन, धरवेश कठेरिया, मीडिया विमर्श, सिनेमा विशेषांक, 3 जून– सन् 2013, पृष्ठ संख्या 82
[17] भारतीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा, संपादक डॉ वीरेंद्र नाथ सिंहध्डॉ वीरेंद्र सिंह यादव, पृष्ठ संख्या 305
[18] समय सिनेमा और इतिहास, संजीव श्रीवास्तव, पृष्ठ संख्या 163

दायित्व को निभाने के लिए एक शक्ति बनकर सामने आता है। "सामाजिक बुराइयों को उजागर करती अनेक ऐसी फिल्में आई जिन्होंने सामाजिक दर्शन और सामाजिक व्यवस्था के व्यावहारिक पहलुओं की अमिट छाप छोड़ी। जिसमें 'लगे रहो मुन्ना भाई', 'गंगाजल', 'अपहरण', 'लज्जा', 'रंग दे बसंती', 'तारे जमीन पर', 'जेल', 'आरक्षण', 'राजनीति', 'पान सिंह तोमर' आदि।"[19] इस दौर में जहां 'लगान', 'रंग दे बसंती', 'ए वेडनेसडे', 'नो वन किल्ड जेसिका' जैसी फिल्मों में जहां व्यक्ति को देश एवं समाज के विकास को दिखाया जा रहा था वहीं सामाजिक अन्याय के खलिाफ आवाज उठाने का संदेश भी दिया गया है। लगान फिल्म में राष्ट्रवाद के उदय को विषय बनाया गया है। 'पीपली लाइव' में किसानों द्वारा लगातार जारी आत्महत्या की गंभीर समस्या को व्यंगात्मक ढंग से उठाया गया है। 'चांदनी बार' और 'चमेली' फिल्मों में मानव तस्करी और वेश्यावृत्ति समस्या को दिखाया गया है।

'तारे जमीन पर', 'थ्री ईडियट्स', 'मुन्ना भाई एमबीबीएस', 'आरक्षण' आदि फिल्मों में देश की स्कूल–कॉलेज की शिक्षा व्यवस्था पर सवाल किए गए हैं। 'बर्फी' में एक गूंगे–बहरे लड़के का प्रभावशाली अभिनय है तो वहीं विकी डोनर फिल्म में आज की युवा पीढ़ी की व्यस्त एवं भागदौड़ जीवन शैली से प्रभावित होती प्रजनन क्षमता की समस्या को विषय बनाया गया है। 'ओ माय गॉड' फिल्म धार्मिक ठेकेदारों पर व्यंग करती है। 'इंग्लिश विंग्लिश' फिल्म देश को अपनी मातृभाषा (हिंदी) के बदले अंग्रेजी भाषा बोलने तथा सीखने के प्रति गुलाम भारतीय मानसिकता को दर्शाया गया है।

'गंगाजल', 'राजनीति', 'आरक्षण' और '**चक्रव्यूह'** फिल्मों में ज्वलंत सामाजिक मुद्दों को विषय बनाया गया है। 'गंगाजल' फिल्म की कहानी सत्य घटना पर आधारित है। 'आरक्षण' फिल्म भारतीय समाज में हो रहे छुआछूत व जाति–प्रथा को विषय बनाया है। 'चक्रव्यूह' फिल्म में देश की राष्ट्रीय समस्या नक्सलवाद व भ्रष्टाचार को दिखाया गया है। 'रंग दे बसंती' फिल्म में युवाओं के उग्र राष्ट्रवाद को दिखाया गया

[19] सामाजिक परिदृश्य और व्यावहारिक अंतर्मन, धरवेश कठेरिया, मीडिया विमर्श, सिनेमा विशेषांक 3 जून 2013, पृष्ठ संख्या 83

है। 'फैशन' और 'कॉरपोरेट' फिल्में अपने मतलब के लिए इस्तेमाल की जा रही लड़कियों की समस्या को दिखाती है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि 21वीं सदी का हिंदी सिनेमा बहुआयामी है। इस सदी के हिंदी सिनेमा में स्त्री संबंधित नए मुद्दों का भी समावेश हुआ। जिसमें कुछ महत्वपूर्ण फिल्में इस प्रकार है, 'चांदनी बार, 'जुबेदा', 'डोर', 'फैशन', 'किरण बेदी', 'साथ खून माफ', 'कहानी', 'क्वीन', 'लक्ष्मी', 'नीरजा', 'दंगल', 'पिंक', 'मॉम', 'तुम्हारी सुलु', 'थप्पड़', 'छपाक', 'सांड की आंख', 'मर्दानी', 'पंगा', आदि फिल्में स्त्री सशक्तीकरण का प्रमाण हैं।

1.2.भारतीय सिनेमा स्वरूप एवं विकास

भारतीय परंपरा में काव्य को दृश्य एवं श्रव्य दोनों रूपों में विभक्त किया गया है। दृश्य काव्य में भी नाटक एक भिन्न विलक्षण विधा है। इसमें भाषा के साथ भाषेतर माध्यम भी उतनी ही क्षमताओं के साथ संयुक्त रहते हैं। दृश्यता इसकी सबसे बड़ी विशेषता है यद्यपि नाटक में भाषित माध्यम मूल तत्त्व है। किंतु उसके लिए भी ऐसी भाषा आवश्यक है जो रसानुभूति, मानवीय चेष्टा और हाव–भाव से संयुक्त हो इन्हें हम भाषेतर माध्यम कह सकते हैं।

आचार्य भरत ने नाट्य स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा था, "नाट्यम भावानुकीर्तनम।"[20] तो वही "कालिदास की दृष्टि में भी भाव रस एवं अभिनय इन तीनों का समन्वय ही नाट्य है।"[21] जिसका सबसे अच्छा साधन सिनेमा है। सिनेमा एक अत्यंत शक्तिशाली चाक्षुष विधा है। यह किसी न किसी कहानी पर ही आधारित होता है। वह कहानी देश के किसी भी हिस्से की हो सकती है। किसी भी भाषा में हो सकती है। प्रत्येक भाषा का अपना एक सिनेमा होता है। एक नजर में तो ऐसा लगता है कि साहित्य–सिनेमा का रिश्ता बड़ा सहज, स्पष्ट और सीधा है। लेकिन वास्तव में ऐसा नहीं है अनेक फिल्मकार मानते रहे हैं कि अच्छे उपन्यास पर अच्छी

[20] नाट्यशास्त्र, भरतमुनि
[21] कालिदास की रूपाको की भाषा संरचना, रमानाथ पांडे, पृष्ठ संख्या 122

फिल्म बनाना बहुत मुश्किल काम है। क्योंकि साहित्य रचना एक व्यक्तिगत प्रयास है जबकि फिल्म बनाना एक सामूहिक प्रयास।

भारत में इसकी पहल दादासाहेब फालके जी की **'राजा हरिश्चंद्र' (1913)** फिल्म से हुई थी। दुनिया की सबसे ज्यादा फिल्में बनाने वाली इंडस्ट्री के नाते भारतीय सिनेमा जगत् को देखा जाता है। समय के साथ निर्माता, निर्देशक, कलाकार और तकनीकी बदलती रही और उसके साथ भारतीय सिनेमा भी बदलता गया। आज उसकी सौ करोड़ों की छलांगे देखकर आंखें चौंधियाती हैं। धार्मिक और पौराणिक कथाओं से शुरुआत करने वाला भारतीय सिनेमा बाजारवादी सिनेमा तक पहुंचते–पहुंचते कई करवटें ले चुका है। यथार्थवादी समांतर सिनेमा के काल में भारतीय सिनेमा जगत वैचारिक चोटी पर पहुंचा था। इस युग को सुवर्णकालीन सिनेमा कहा जा सकता है। वर्तमान युग में भारतीय सिनेमा में बॉलीवुड़ की फिल्में और अन्य प्रादेशिक भाषाओं की फिल्में दुनिया की किसी भी उत्कृष्ट फिल्म को टक्कर देने की क्षमता रखती हैं। कला माध्यमों में आज सिनेमा ही ऐसा माध्यम है जिसका व्याप कांस, वेनिस के दर्शकों से शुरू होकर अपने देश के दूर–दराज गांव तक है।

सिनेमा एक समय में लाखों लोगों को उकसाने और उत्तेजित करने की भी क्षमता रखता है। भारतीय सिनेमा का इतिहास विश्व सिनेमा इतिहास के लगभग बराबर ही माना जाता है। आजादी से पहले यानी सन् 1936 में वी० दामले और एस० फत्तेलाल के संयुक्त निर्देशन में बनी मराठी फिल्म **'संत तुकाराम जमीन'** से जुड़ी पहली भारतीय फिल्म थी। जिसे सन 1937 में वेनिस फिल्म महोत्सव में पुरस्कृत किया गया था। भारतीय सिनेमा के दौरान कुछ महत्वपूर्ण फिल्म सिटी की बात करें तो सर्वप्रथम बंगाल ध्यान में आता है।

भारत में बंगाल राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और ऐतिहासिक सभी दृष्टि से महत्त्वपूर्ण रहा है। बंगाल के साहित्य ने सदियों से भारत को समृद्ध किया है। बंगाल के सिनेमा की बात करें तो हां साहित्य और सिनेमा का अंतर्संबंध एक दूसरे के समानांतर रहा है। हिंदी फिल्म संसार में बांग्ला संवेदना का अर्थ यह भी है कि

फिल्म का साहित्य, संगीत, रंगमंच आदि विधाओं से गहरा सरोकार बना रहेगा। एक ओर भावुकता और मेलोड्रामा का महत्व था तो दूसरी और फिल्मों में सच्चाई का एक अच्छा साक्षात्कार भी देखा जा सकता था।

बंगाल में विमल राय, ऋतिक घटक, सलिल चौधरी, ऋषिकेश मुखर्जी आदि ने मिलकर लोकप्रिय सिनेमा की एक स्वस्थ परंपरा प्रारंभ की थी। बासु चटर्जी, बासु भट्टाचार्य, गौतम घोष, कल्पना लाजमी, बुद्धदेव दासगुप्ता, सुधेंदु राय जैसे अनेक रचनात्मक लोगों ने इसे आगे बढ़ाया। हिंदी सिनेमा और साहित्य में गुलजार के नाम से कौन परिचित नहीं है। यद्यपि पैदाइश से सिख और उर्दू से जुड़े थे। परंतु उनकी संवेदना का मुख्य आधार बंगाल की संस्कृति थी। इसलिए रविंद्रनाथ टैगोर, जीवनानंद दास और सुभाष मुखर्जी के बंगाल में वे रच बस गए। विमल राय गुलजार के पहले फिल्म गुरु थे। विनोद भारद्वाज कहते हैं कि ऋषिकेश मुखर्जी से लेकर राखी तक बंगाल इस शायर को बराबर रिझाता रहा।

'विलबामंगल' (1919) बांग्ला भाषा में पहली फिल्म बनी। कलकत्ता इसका केंद्र है और इसे **'टॉलीवुड'** के नाम से पहचाना जाता है। 'टॉलीवुड' नाम कोलकाता के 'टॉलीगंज' से सम्बद्ध है। यह ध्यातव्य है कि तेलुगू सिनेमा को भी 'टॉलीवुड' के नाम से जाना जाता है। बंगाल में जन्मे सत्यजीत राय ने अपने जीवन में 37 फिल्मों का निर्देशन किया था। जिनमें फीचर फिल्में, वृत्त चित्र और लघु फिल्में शामिल हैं। इनकी पहली फिल्म **'पथेर पांचाली'** को कान फिल्मोत्सव में मिले **"सर्वोत्तम मानवीय प्रलेख"** पुरस्कार को मिलाकर कुल ग्यारह अन्तरराष्ट्रीय पुरस्कार मिले। यह फिल्म 'अपराजितो' और 'अपुर संसार' के साथ इनकी प्रसिद्ध अपु त्रयी में शामिल है। राय फिल्म निर्माण से सम्बन्धित कई काम खुद ही करते थे– पटकथा लिखना, अभिनेता ढूंढना, पार्श्व संगीत लिखना, चलचित्रण, कला निर्देशन, संपादन और प्रचार सामग्री की रचना करना। ेबनाने के अतिरिक्त वे कहानीकार, प्रकाशक, चित्रकार और फिल्म आलोचक भी थे। राय को जीवन में कई पुरस्कार मिले जिनमें अकादमी मानद पुरस्कार और भारत रत्न शामिल हैं।

विवेक दुबे के अनुसार, "भले ही कोई फिल्म किसी कहानी या उपन्यास पर आधारित हो वह प्रथमतः और अंततः निर्देशक की ही कृति है, उसी की रचना है। यदि ऐसा न होता तो 'पथेर पांचाली' फिल्म की असाधारण कलात्मकता का सारा श्रेय सत्यजीत राय को न दिया जाता।"[22]

बंगाल के बाद सार्थक सिनेमा की इस स्वस्थ धारा को समृद्ध करने में दक्षिण की बारी आई। खासतौर से केरल और कर्नाटक में 1965 के बाद सिनेमा की दुनिया में एक नई लहर देखी गई। कन्नड़ सिनेमा के शुरू में साहित्य और रंगमंच से जुड़ी प्रतिभाओं का योगदान अधिक प्रबल था। मलयालम में पुणे फिल्म संस्थान से प्रशिक्षित या फिल्म सोसाइटी आंदोलन के संपर्क से उभरे फिल्मकारों ने तथाकथित नई लहर को जन्म दिया। पश्चिम बंगाल के बाद केरल सार्थक भारतीय सिनेमा का दूसरा बड़ा केंद्र बन गया था। 1965 में रामू करियात की 'तकषी शिवशंकर पिल्लै' मछुआरों के जीवन पर लिखे गए उपन्यास पर आधारित मलयालम फिल्म 'चेम्मीन' एक नया रास्ता बनाया। कन्नड़ सिनेमा में 'संस्कार' (1970) से यह शुरुआत हुई इन दोनों ही भाषाओं में साहित्यकार एवं रंगकर्मी बहुत सजग और सक्रिय थे। हिंदी में साहित्यकार सिनेमा से लगभग कटे रहे हैं लेकिन मलयालम और कन्नड़ में सार्थक सिनेमा को शुरू करने में साहित्यकारों–रंगकर्मियों ने ही एक गरिमा प्रदान की थी।

कन्नड़ भाषा की प्रथम फिल्म **'सती सुलोचना' (1934)** में वाई०वी० राव के निर्देशन में बनी थी। तो वहीं तमिल में प्रथम फिल्म **'कीचक वधमर' (1917)** आर नटराज मुदलियार के निर्देशन में बनी। इसी प्रकार तेलुगू की **'भीष्म प्रतिज्ञा' (1921)** में रघुपति वेंकैया के निर्देशन में बनी जिन्हें तेलुगू सिनेमा का पिता भी कहा जाता है। मलयालम भाषा में प्रथम फिल्म **'विगाथाकुमारण'** बनी थी। दक्षिण फिल्मों की सफलता ने मलयालम सिनेमा में अडूर गोपालकृष्णन, अरविंदन, जॉन अब्राहिम, शाजी एंन करुण, टी०वी० चंद्रन और कन्नड़ में गिरीश कार्नाड, ब०व० कारंत, गिरीश कासरवल्ली जैसे महत्वपूर्ण नामों को उभरने का मौका मिला। दक्षिण में सिनेमा का वास्तविक केंद्र चेन्नई था वहां पर फिल्म निर्माण की लंबी परंपरा है। दरअसल

[22] साहित्य और सिनेमा बदलते परिदृश्य में संभावनाएं और चुनौतियां, संपादक डॉ शैलजा भारद्वाज, चिंतन प्रकाशन, वर्ष 2013, पृष्ठ संख्या 24

तमिलनाडु में सिनेमा के सितारे सामान्य जन्मे देवताओं की तरह प्रतिष्ठित रहे हैं। सर्वेक्षण के अनुसार तमिलनाडु में फिल्म रिलीज होने वाले दिन से ठीक पहले खून बेचकर पैसा जुटाने वालों की संख्या बढ़ जाती है। इस फिल्म प्रेम ने वहां लगभग उन्माद का रूप ले रखा है। तमिलनाडु की तरह ही इस फिल्म प्रेम को आंध्र प्रदेश में भी देखा जा सकता है। एन.टी.रामराव राजनीति शक्ति बनने से पहले ही आम जनता में इतना अधिक लोकप्रिय थे कि उनका एक मंदिर बन गया था।

दक्षिण में सिनेमा का दर्जा अद्वितीय है। चेन्नई और हैदराबाद में गंभीर या सार्थक सिनेमा को पनपने के अवसर कम मिले हैं। लेकिन केरल और कर्नाटक में आम जीवन में विशेष प्रतिष्ठा रही है। "तमिल में गंभीर सिनेमा को पनपने का मौका नहीं मिला पर वहां 'बीच का सिनेमा' अपनी एक सशक्त पहचान बनाता रहा है। के बालचंदर, भारती राजा, जे महेंद्रन, बालू महेंद्रू, मणिरत्नम जैसे फिल्मकार इसी वर्ग के हैं। मणिरत्नम 'नायकन', 'अंजलि', 'रोजा', 'बांबे' जैसी फिल्मों के बाद दक्षिण में एक 'कल्ट' फिल्मकार माने जाने लगे हैं।"[23]

यह भी उल्लेखनीय है कि मुंबई फिल्म उद्योग की तुलना में चेन्नई और हैदराबाद में तथाकथित मुख्यधारा फिल्म निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया अधिक कल्पनाशील, पेशेवर और तकनीक रूप में दक्ष है। मणिरत्नम, रामगोपाल वर्मा, कमल हसन, रजनीकांत चिरंजीवी, नागेश कुकुनूर जैसे फिल्मकार और इलयराजा और ए.के. रहमान जैसे संगीतकार दक्षिण के लोकप्रिय सिनेमा में ही जन्म लेकर प्रतिष्ठित हुए हैं। गौर करने की बात है कि 70 के दशक में तेलुगू में बाहर के तीन बड़े फिल्मकारों ने चर्चित और गैर–व्यावसायिक फिल्में बनाई। मृणाल सेन की 'ओका ओरी कथा' (1977) प्रेमचंद्र की बहुचर्चित कहानी कफन पर आधारित थी। श्याम बेनेगल ने **(1977) 'अनुग्रहम'** बनाई और गौतम घोष की **'मां भूमि' 1989** को तो अच्छी खासी सफलता भी मिली थी। इन फिल्मों ने आंध्र प्रदेश के सिनेमा के यथार्थ को बदला। तेलुगू में संगीतम श्रीनिवास राव, के० विश्वनाथ जैसे कुछ फिल्मकार स्वस्थ लोकप्रिय सिनेमा के विश्व में उल्लेखनीय काम करते रहे हैं। मलयालम की एक अन्य कालजी फिल्म **'पीरवी' (1988)** के निर्देशक शाहजी करुण पहले अरविंदन के कैमरामैन भी थे।

[23] सिनेमा कल, आज, कलश, संपादक विनोद भारद्वाज, वाणी प्रकाशन, वर्ष 2006, पृष्ठ संख्या 355

पीवी की कथा आपातकाल के दिनों के एक कुख्यात राजन हत्या केस के इर्द–गिर्द रहती है। तेलुगू कवि पट्टभी रामरेड्डी के निर्देशन में बनी **'संस्कार'** यू० आर० अनंतमूर्ति के उपन्यास पर आधारित थी। गिरीश कार्नाड इस फिल्म के पटकथा लेखक और नायक दोनों थे। 'संस्कार' ने दक्षिण भारतीय सिनेमा को नए संस्कार दिए। यह गहरी साहित्यिक संवेदना और सामाजिक यथार्थ से परिपूर्ण, कन्नड़ सिनेमा में अपनी जिम्मेदारी थी।

पश्चिम भारत की बात करें तो हिंदी भाषा की एक सहयोगी भाषा के तौर पर राजस्थानी को जाना जाता है। यह अपनी सुदीर्घ भाषा एवं साहित्य परंपरा राजसी ठाठ, मिठास से संपृक्त भाषा के तौर पर अपना महत्व रखती है। हिंदी फिल्मों का प्रभाव राजस्थान पर भी पड़ा है। इससे वहां के क्षेत्रीय सिनेमा की परंपरा को समझा जा सकता है राजस्थानी सिनेमा इतिहास के गौरवपूर्ण अतीत के सामान है। पहली राजस्थानी फिल्म जून 1942 में प्रदर्शित हुई थी। 'नजराना' (नजराणौ) शीर्षक से निर्मित इस फिल्म के नायक महिपाल थे। जोधपुर निवासी महिपाल को पहला मौका पी०जी० कपूर द्वारा निर्मित नजराना फिल्म में मिला। नजराना की खासियत यह थी कि यह मुंबई में राजस्थानी और हिंदी में एक साथ बनी। राजस्थानी सिनेमा में ध्यान देने की बात यह है कि यह समय क्षेत्रीय नेताओं के प्रभाव का भी था ऐसे में राजस्थानी सिनेमा ने अपने को तैयार किया। बी०के० आदर्श द्वारा निर्देशित फिल्म **'बाबासा थी लाडली'** राजस्थानी भाषा की पहली सुपरहिट फिल्म मानी जाती है। इसके नायक के तौर पर कन्नड़ फिल्म अभिनेता राजकुमार थे।

"इसके बाद 1988 तक कई फिल्मों का निर्माण हुआ इसमें 'नानीबाई को मायरो' (1962), 'बाबा रामदेव' (1964) 'गोगाजी पीर' (1969) 'सुपातर बीनणी' (1981), 'चोखो लागे सासरियो' (1983), 'देवरानी–जेठानी' (1985) 'करमा–बाई' (1988) 'भोमली' (1991) 'बेटी हुई पराई री' (1994) 'छम्मक छल्लो' (1996) 'देव' (1998) 'गोरी रो पल्लो लटके' (2000) 'पराई बेटी' (2006) 'लाडली' (2016) 'जराथम दादरसी' (2017) 'कानूडो' (2018) आदि प्रमुख हैं।"[24] **'हुकुम' 2014** में प्रदर्शित हुई।

[24] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्रा, प्रथम संस्करण सन् 2019, कनिष्क पब्लिशिंग हाउस, पृष्ठ संख्या 281

फिल्म हुकुम पहली राजस्थानी फिल्म बनी जो एक साथ पचास से ज्यादा सिनेमाघरों में रिलीज हुई। राजस्थानी दर्शकों एवं अन्य भारतीय भाषी लोगों ने इन सभी फिल्मों को भरपूर प्यार दिया है।

पूर्वोत्तर भारत की बात करें तो सन् 1940 के प्रारंभ में मणिपुरी सिनेमा का दौर प्रारंभ हुआ लेकिन इसका कोई रिकॉर्ड नहीं है। इसलिए प्रथम मणिपुरी सिनेमा के सफलतापूर्वक सार्वजनिक प्रदर्शन का श्रेय श्री काराम मनमोहन को जाता है। उन्होंने कीर्ति फिल्म्स के बैनर में **'मतमगी मणिपुर'** का निर्माण सन 1972 में किया। यह सेंसर किया गया प्रथम मणिपुरी सिनेमा है।

शुमांग लीला (लोक नाटक) और नाटक ऐसी रंगकलाएं हैं, जो मणिपुर में सिनेमा की दौड़ से पहले मंचन होती थी। मणिपुर में थिएटर का आरंभ सन् 1902 में हुआ और मुख्य बात यह है कि मणिपुरी सिनेमा के विकास के लिए इन रंगकर्मियों, थिएटर से जुड़े लोगों ने ही कष्ट उठाया। मणिपुरी सिनेमा की शुरुआती दौर में महिला कलाकारों को अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ा। फिल्मकार अरीबम श्याम शर्मा के कथनानुसार, "मणिपुरी भाषा में मुनाफा के लिए फिल्म निर्माण का कदम इस कम आबादी वाले छोटे से राज्य के लिए असंगत था। विश्व सिनेमा के इतिहास में भी छोटे समूह के लोग अपनी भाषा में फिल्म का निर्माण नहीं कर पाए अगर एक–दो फिल्मों का निर्माण किया भी है। तो आगे तक नहीं चल पाते एक नामुमकिन कदम बनकर रह जाते हैं मगर मणिपुर में ऐसा नहीं हुआ।"[25]

उस समय के सिनेमा से जुड़े लोगों की कला के प्रति श्रद्धा और लगन अद्वितीय थी। "सन् 1972 से अब तक प्रदर्शित मणिपुरी फिल्मों में ज्यादातर मणिपुरी समाज, स्त्री की समस्या, आदर्श स्त्री चरित्र को केंद्र में रखा गया है। इस तरह की फिल्मों में 'मतमगी मणिपुर' (1972), 'शाफबी' (1977), 'इशानौ' (1990) आदि प्रमुख हैं।"[26]

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि भारत विविधता में एकता वाला देश है। यहां भारतीय संविधान के अनुसार 22 भाषाएं और अनगिनत बोलियां है। जिनका अपना

[25] अरीबम श्याम शर्मा, मणिपुरी सिनेमा ऐगी पाओदम लंयान्बा प्रिंट्स, इंफाल, प्रथम संस्करण 2016, भूमिका से
[26] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्रा, प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 262

अलग–अलग साहित्य, सिनेमा, लोक–संस्कृति और समाज है। उपरोक्त अध्याय में कुछ महत्वपूर्ण भारतीय भाषाओं के सिनेमा का उल्लेख किया गया है। कुछ अन्य भाषाओं के सिनेमा का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है। असमिया भाषा में बनी पहली फिल्म **'जोयमोती' (1935)** थी। यह पहली भारतीय फिल्म है जिसमें डबिंग और रिकॉर्डिंग टेक्नोलॉजी का इस्तेमाल किया गया था। वहीं ओडिया भाषा में प्रथम फिल्म मोहन सुंदरदेव गोस्वामी द्वारा निर्देशित **'सीता बिबाह' 1936** में आई थी। यह महाकाव्य रामायण पर आधारित फिल्म थी। पंजाबी भाषा की प्रथम फिल्म **'हीररांझा' (1932)** में ए०आर० करदान के निर्देशन में बनी। भारत में कुछ बोलियों का क्षेत्र, समाज और संस्कृति इतनी व्यापक है कि उन्होंने भाषा का रूप ले लिया है। यह कहना अतिशयोक्ति नहीं कि उनमें अच्छा खासा साहित्य भी रचा गया है। जिसमें अवधी और भोजपुरी का नाम विशेष रूप से लिया जा सकता है। भोजपुरी हिंदी भाषा की एक प्रमुख बोली है। जिसने साहित्य और सिनेमा दोनों को समृद्ध किया है। भोजपुरी भाषा की प्रथम फिल्म 1963 में **'गंगा मइया तोहे पियरी चढ़ाइवो'** बनाई गई थी।

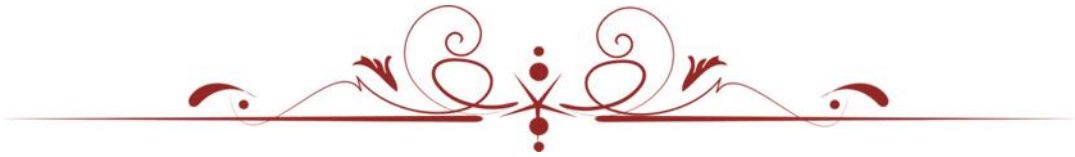

द्वितीय अध्याय
21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम

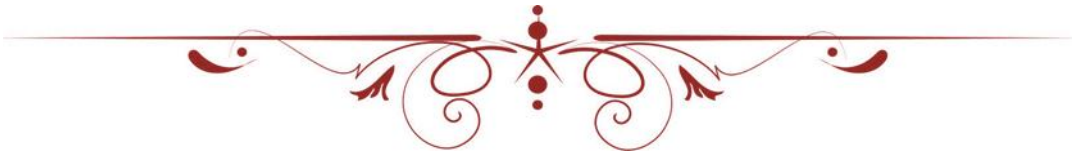

द्वितीय अध्याय
21वीं सदी के हिंदी सिनेमा के विविध आयाम

19वीं सदी के अंतिम दशक में जन्म लेने वाले सिनेमा का संबंध लोकतंत्र से बहुत गहरा है। आरंभ से ही यह रचना से लेकर अभिव्यक्ति तक सामूहिक भागीदारी पर बल देता है। सामूहिकता के बिना सिनेमा संभव नहीं है। सामूहिकता किसी श्रेणीबद्धता से नहीं बराबरी की भावना से ही संभव होती है। फिल्म के निर्माण में यद्यपि निर्देशक की भूमिका केंद्रीय होती है। लेकिन अभिनेता, छायाकार, संगीतकार, पटकथा–लेखक, संपादक आदि की भूमिकाओं को भी कम करके नहीं आंका जा सकता। सिनेमा एक ऐसा माध्यम भी है जिसको एक साथ सैकड़ों लोग देख सकते हैं और आनंदित हो सकते हैं। यह अनगिनत लोगों के रोजगार का भी साधन है। "आज की भूमंडलीकरण के दौर में तेजी से बदलते सामाजिक, राष्ट्रीय, वैचारिक परिदृश्य में हमारी संस्कृति सांस्कृतिक पहचान विलुप्त होती जा रही है। साथ ही मानवीय मूल्य एवं मानव मनोविज्ञान भी बदल रहा है। सिनेमा, टेलीविजन नवप्रौद्योगिकी का हथियार बन इस बाजार और नई संस्कृति को परोसने में बहुत प्रभावी माध्यम के रूप में सामने आया है।"[27]

21वीं सदी की हिंदी सिनेमा ने समय–समय पर अपनी विषय वस्तु में बदलाव किए हैं। वर्तमान सिनेमा सामाजिक, राजनीतिक आर्थिक और धार्मिक आदि विषयों को नये ढंग से प्रस्तुत कर रहा है। जिसे इस दौरान आयी फिल्मों के जरिए समझ जा सकता है। भारत में बाबूराव पेंटर, वी शांताराम, देवकी बोस, हिमांशु राय, पी.सी. बरुआ, नितिन बोस, महबूब सोहराब मोदी आदि ने सिनेमा को सामाजिक उद्देश्यों से प्रेरित एक सार्थक माध्यम के रूप में विकसित करने का प्रयत्न किया। इस परंपरा को बाद में आने वाली फिल्मकारों ने भी लगातार आगे बढ़ाने की कोशिश की है।

वर्तमान परिस्थितियां देश के विभिन्न हिस्सों से आए निर्देशकों को मंच पर ला रही हैं। इस दशक में ढेर सारे युवा निर्देशकों की फिल्में सफल रहीं। उन्हें पहचान

[27] साहित्य और सिनेमा बदलती परिदृश्य में संभावनाएं और चुनौतियां, संपादक डॉ शैलजा भारद्वाज, चिंतन प्रकाशन, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या 45

और जगह मिली। फरहान अख्तर, राजकुमार हिरानी, मधुर भंडारकर, अनुराग कश्यप, विशाल भारद्वाज, इम्तियाज अली, अनुराग बसु, राजकुमार गुप्ता, मेघना गुलजार, फराह खान आदि कुछ महत्वपूर्ण नाम हैं। जिन्होंने हिंदी सिनेमा को नए विषय–वस्तु के साथ प्रस्तुत किया है। इन्होंने कथ्य, प्रस्तुति और परिवेश में हिंदी फिल्मों को सकारात्मक विस्तार दिया। ये सभी फिल्मकार अपने संस्कार और नजरिए से हिंदी फिल्मों को नई ऊंचाई और गहराई दे रहे हैं। देश–विदेश में इनकी फिल्में समान रूप से सराही जा रही हैं। "एक कलाकार, एक साहित्यकार या रंगकर्मी सरकारी संस्थाओं पर अपनी रचना कर्म को सबसे कम आश्रित पाता है। लेकिन यह बात फिल्म विधा के बारे में नहीं कही जा सकती है। यह एक महंगी विधा है, बाजार और बॉक्स ऑफिस का दबाव इस विधा पर निर्णायक असर डालते हैं।"[28]

सिनेमा के उद्‌भव और विकास के साथ फिल्में भारतीय समाज का आईना बनती चली गयीं थी, समाज में घटने वाली घटनाओं को सिनेमा जब पर्दे पर लेकर आया तो देश में एक नयी क्रांति आ गयी। श्रमिक, किसान और मजदूरों को केंद्र में रखकर हिन्दी सिनेमा ने कई नायाब फिल्में दीं हैं। साठ के दशक में विमल राय के निर्देशन में बनी एवं बलराज साहनी अभिनीत फिल्म 'दो बीघा जमीन' और महबूब खान निर्देशित एवं राजेन्द्र कुमार, सुनील दत्त तथा नर्गिस दत्त अभिनीति **'मदर इण्डिया'** ने हिन्दी सिनेमा को समृद्ध कर दिया था। आगे चलकर 'पुकार', 'दामुल', 'बाजार' जैसी फिल्मों में किसान एवं मजदूर जीवन को पर्दे पर उतारा गया। समकालीन हिन्दी सिनेमा में बहुत कम फिल्में किसानों और मजदूरों के जीवन संघर्षों को लेकर बनीं हैं।

समकालीनता को सिनेमा में परिभाषित करना मुश्किल होगा किन्तु इक्कीसवीं सदी के प्रथम और द्वितीय दशक में बनी महत्त्वपूर्ण हिन्दी फिल्मों में 'लगान', 'स्वदेश', 'किसान' और 'पीपली लाइव' जैसी फिल्में किसानों के संघर्षों को बहुत ही संजीदगी से उठाती हैं। आज के दौर में किसानों के सामने अनेक तरह की समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं, अतिवृष्टि–अनावृष्टि, कर्ज का बोझ, दलालों की मुनाफाखोरी,

[28] सिनेमा कल, आज, कल, विनोद भारद्वाज, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2006, पृष्ठ संख्या 291

राजनीतिक षड्यंत्र, फसलों का बर्बाद हो जाना आदि के कारण किसान संघर्ष करता रहा है।

समकालीन हिंदी सिनेमा ने संवेदनशील मुद्दों के खिलाफ मुहिम उठाई है। उपेक्षित समझे जाने वाले समाज को केंद्र में रखकर विषय–वस्तु का निर्धारण किया जा रहा है। साथ ही दलित विमर्श और स्त्री विमर्श को केंद्र में रखकर बहुत सारी फिल्में भी निर्मित हुईं। जैसे–जैसे देश में आर्थिक उन्नति होती हो रही है, वैसे–वैसे फिल्मों का चरित्र भी बदलता गया। वैश्वीकरण के चलते पुलिस, कानून, नशाखोरी, राजनीति, धर्म–आस्था जैसे सामाजिक मुद्दों पर भी फिल्में बनीं हैं।

2.1. सामाजिक मूल्यों पर आधारित फिल्में

हिंदी सिनेमा एक्शन, ड्रामा, कॉमेडी, हॉरर, रोमांटिक, थ्रीलर और बायोपिक पर ही निर्भर नहीं है, बल्कि समय–समय पर सामाजिक मुद्दों पर आधारित फिल्में भी दर्शकों के लिए पेश की गई हैं। जिसके माध्यम से देश के लोगों को जागरूक कर उन्हें आगे बढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया गया है। सिनेमा का इतिहास रहा है कि वह कभी समाज के संवेदनशील मुद्दों पर आधारित फिल्मों से दूर नहीं भागा है क्योंकि दर्शक इन फिल्मों की ज्यादा मांग करते हैं। "सिनेमा के माध्यम से समाज के विभिन्न सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, चारीत्रिक पहलुओं के वास्तविक व उन्नत रूप का छायांकन कर हम इसका उपयोग समाजोत्थान की दिशा में कर सकते हैं।"[29]

21वीं सदी में आयीं सामाजिक मुद्दों पर आधारित कुछ महत्त्वपूर्ण फिल्मों से यह समझा जा सकता है कि भारतीय समाज में हो रहे बदलावों में सिनेमा का कितना योगदान रहा है।

सन् 2001 के मध्य में दो महत्त्वपूर्ण फिल्में रिलीज हुई थी **'लगान'** और '**गदरःएक प्रेम कथा**' दोनों में इतिहास को कथा का आधार बनाया गया है। गदर का संबंध विभाजन से तो लगान का स्वाधीनता संग्राम से है। हालांकि लगान में सीधे

[29] सिनेमा और सामाजिक सरोकार, संपादक डॉ दयानंद गौतम, डॉ कामना महेंद्रु, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 64

तौर पर आजादी की लड़ाई नहीं है। लगान में मध्यप्रांत के एक गांव की कहानी है। जो रियासत के अंतर्गत आता था। जिसकी बागडोर सीधे तौर पर राजा पूर्ण सिंह के हाथ में थी और जो किसानों से लगान वसूला करता था। लेकिन लगान का निर्धारण अंग्रेज करते थे और लगान का बड़ा हिस्सा अंग्रेजों के पास जाता था। 'लगान' की कहानी का समय 1893 का है। **'लगान' (2001)** फिल्म के निर्देशक आशुतोष गोवारिकर हैं। फिल्म का नायक भुवन भारत के उस आम आदमी का प्रतीक है, जिसके पास अंग्रेजों से लडने के लिए कोई भी हथियार नहीं है। लेकिन वो अपने आत्मबल के भरोसे ऐसी लड़ाई लड़ता है, जिसके बारे में कोई सोच भी नहीं सकता। एक आम आदमी हमेशा एक मौके की तलाश में रहता है, क्योंकि उसे जीत की आस हमेशा मौका मिलने पर ही नसीब हो सकती है। भुवन के साथ भी कुछ ऐसा ही था। उसके पास सिर्फ एक मौका है जीतने का...और हार के कई मौके हैं। लेकिन हार से बेफिक्र भुवन अपनी मिट्टी व अपने लोगों के लिए आखिरी वक्त तक लड़ता है और अपनी कभी न हार मानने वाली जिद की वजह से ही जीतता है।

'बागबान' 2003 में बनी हिन्दी भाषा की फिल्म है। इस फिल्म का निर्देशन रवि चोपड़ा ने किया है। इसके निर्माता बी.आर.चोपडा हैं। इस फिल्म में मुख्य किरदार के रूप में अमिताभ बच्चन, हेमामालिनी, सलमान खान, परेश रावल, महिमा चौधरी, रिमी सेन और असरानी ने कार्य किया है। राज (अमिताभ बच्चन) और पुजा मल्होत्रा (हेमा मालिनी) एक दूसरे से और अपने बच्चों से बहुत प्यार करते रहते हैं। लेकिन उनके बच्चे जिम्मेदारी से भागते हुए उन्हें साथ नहीं रखना चाहते। यह फिल्म भारत में बढ़ते वृद्ध आश्रमों के कारणों पर प्रकाश डालती है।

आशुतोष गोवारिकर द्वारा निर्देशित एक और फिल्म **'स्वदेश' (2004)** सामाजिक मुद्दों पर आधारित रही। फिल्म का नायक मोहन भार्गव(शाहरुख खान) उन सारे युवाओं के लिए प्रेरणास्रोत है, जो बेहतर जिंदगी की तलाश में देश छोडकर पलायन कर रहे हैं। मोहन नासा में रहता है, लेकिन उसकी जड़े भारत में हैं। जिन्हें वो चाहकर भी खुद से अलग नहीं कर पाता। वह देश की याद दिलाती कावेरी अम्मा को अपने साथ अमेरिका ले जाना चाहता है। इस दौरान वह खुद अपने देश का होकर रह जाता है और उन बुनियादों समस्याओं को ठीक करने की कोशिश करता

है। जिनका नाम लेकर लोग देश छोडकर चले जाते हैं और सुख–सुविधाओं से भरी जिंदगी जीते हैं। ये फिल्म शाहरुख खान के कॅरियर की सबसे शानदार फिल्मों में से एक है। जिसे आधुनिक भारतीय सिनेमा की क्लासिक फिल्म माना जा सकता है।

सन् 2006 में 'रंग दे बसंती' फिल्म शुद्ध रूप से असरदार सिनेमा है। कौन कहता है फिल्म का दर्शकों पर प्रभाव नहीं होता...जरूर होता है। 'रंग दे बसंती' से बेहतर उदाहरण और कुछ हो ही नहीं सकता। आज से लगभग चौदह साल पहले रिलीज हुई इस फिल्म ने न सिर्फ सफलता का रिकॉर्ड तोड़ा, बल्कि ऐसा सामाजिक संदेश दिया, जिसे लेकर युवावर्ग को सोचने पर मजबूर कर दिया। मसलन, हम कहां जा रहे हैं? हमारी जिंदगी का मकसद क्या है? सरकार और देश को कोसने भर से कुछ नहीं होता है? यदि कोई समस्या है, तो उसके लिए लडना सीखो और उसका हल निकालो। निर्देशक राकेश ओमप्रकाश मेहरा की इस फिल्म ने आमिर खान के कॅरियर को एक नई दिशा दी। इतने सालों बाद भी यह फिल्म युवाओं की पसंदीदा फिल्मों में से एक है। फिल्म के यह डायलॉग "जिंदगी जीने के दो ही तरीके होते हैं। एक जो हो रहा है होने दो, बर्दाश्त करते जाओ या फिर जिम्मेदारी उठाओ उसे बदलने की।" "अब भी जिसका खून ना खौला खून नहीं वह पानी है। जो देश की काम ना आए वह बेकार जवानी है।" "कोई भी देश परफेक्ट नहीं होता उसे बेहतर बनाना पड़ता है"[30] आज भी लोगों की जुबान पर हैं।

'चक दे इंडिया' (2007) फिल्म में बिना कुछ जाने समझे एक खिलाड़ी को देशद्रोही साबित कर दिया जाता है। कई सालों बाद उसे अपने माथे पर लगे उस झूठे कलंक को धोने का मौका मिलता है। एक कोच बनने का मौका, वह भी लड़कियों की टीम का। अब एक तरफ देश–समाज का सताया हुआ कोच है, तो दूसरी ओर ताश के पत्तों के माफिक बिखरी हुई गर्ल्स टीम। इंडियन हॉकी टीम के कोच कबीर खान के लिए ये मौका है बदनामी के दाग धोने का। तो हॉकी टीम की लड़कियों के पास मौका है उन सभी लोगों को गलत साबित करने का, जो ये कहते है कि लड़कियां, लडकों की बराबरी नहीं कर सकतीं। बल्कि वो उनसे बेहतर काम कर सकती हैं। इस फिल्म को देखते हुए आप हर किरदार से इस कदर जुड़ जाते

[30] रंग दे बसंती, सन् 2006, निर्देशक ओम प्रकाश मेहरा, दृश्य माध्यम, 12/08/2019

हैं कि इनकी लड़ाई आपको अपनी लगने लगती है। **'स्वदेश'** के बाद शाहरुख की ये दूसरी फिल्म है, जिसमें उनके अभिनय को हमेशा याद किया जाएगा।

भारत का कोई व्यक्ति ही होगा जिसने **'थ्री इडियट्स'** फिल्म न देखी होगी। शिक्षित समाज के प्रत्येक वर्ग और समुदाय के लोगों के लिए बहुत जरूरी है। देश की शिक्षा प्रणाली पर समय–समय पर सवाल खड़े होते आए हैं। शिक्षा का गिरता हुआ स्तर सिर्फ सरकारी स्कूलों तक ही सीमित नहीं है बल्कि बड़े–बड़े संस्थान जैसे आईआईटी और आईआईएम में भी छात्रों को बोझिल शिक्षा प्रणाली का सामना करना पड़ता है। फिल्म **'थ्री इडियट्स'** में शिक्षा के गिरते ग्राफ को दिखाया है। बताया गया है कि शिक्षा रटने की चीज नहीं बल्कि उसे अंदरूनी तौर से ग्रहण करने और समझने की जरूरत है। फिल्म ने देशभर में इस विषय से सुर्खियां बटोरी थी और फिल्म के निर्देशक राजकुमार हिरानी की इस पहल को खूब सराहा था।

'टॉयलेटः एक प्रेम कथा' (2017) एक भारतीय हिन्दी फिल्म है। जिसका निर्देशन श्री नारायण सिंह ने किया है। यह एक हास्य–व्यंग्य फिल्म है। जो ग्रामीण इलाकों में स्वच्छता और शौचालय के महत्व जैसे गंभीर मुद्दे पर प्रकाश डालती है। फिल्म की कहानी प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी के स्वच्छ भारत अभियान से प्रेरित है। यह फिल्म परंपरागत रूढ़िवादी सोच पर कटाक्ष है। महिलाओं को समाज की मर्यादा बताने वाले लोगों को एक सीख देती है। ऐसे लोगों को घर में महिलाओं के पर्दा उठने से आपत्ति और बाहर शौचालय जाना आपत्तिजनक नहीं लगता। **'टॉयलेटःएक प्रेम कथा'** के माध्यम से समाज में जागरूकता व महिला अधिकारों की मांग को दिखाया गया है।

'पैडमैन' (2018) अक्षय कुमार अभिनीत फिल्म बहुत ही संवेदनशील विषय पर आधारित है। कैसे लड़कियां मासिक धर्म के दौरान तरह–तरह की परेशानियों का सामना करती हैं फिल्म में इस पर प्रकाश डाला गया है। फिल्म अरुणाचलम मुरुगुनांथम नामक व्यक्ति की असल कहानी पर आधारित है। गांव–कस्बे की लड़कियों और महिलाओं के लिए सेनेटरी नैपकिन को तैयार कर उन्हें इसके इस्तेमाल और फायदे से अवगत कराने की कोशिश की गई है। साथ ही इसके ना

इस्तेमाल करने के अनेक नुकसान भी इस फिल्म में गिनवाए गए हैं। फिल्म का निर्देशन आर.बाल्की ने किया था। लक्ष्मीकांत (अक्षय कुमार) अपनी पत्नी के मेंस्ट्रुअल हाइजीन के मुद्दे को लेकर इतना ज्यादा विचलित हो जाता है कि उस समस्या का निवारण करने के लिए खुद सैनिटरी पैड बनाने की ठान लेता है। मगर वह जिस दौर में यह निर्णय लेता है, वह है करीब सोलह साल पहले यानी 2001 की बात, जब टीवी पर किसी सैनिटरी पैड के विज्ञापन के आने पर या तो चैनल बदल दिया जाता था या पूछे जाने पर उसे साबुन या किसी और विज्ञापन का नाम दिया जाता था। ग्रामीण इलाकों में तो इसे गंदा और अपवित्र मानकर इसके बारे में बात करना भी पाप समझा जाता था। उस परिवेश में अरुणाचलम मुरुगनंथम की सच्ची कहानी ने लोगों को जागरूक करने की दमदार पहल की है।

सितंबर 2018 में सुप्रीम कोर्ट के ऐतिहासिक फैसले ने समलैंगिकता पर समाज के सामने एक नजीर पेश की। देश की सर्वोच्च अदालत ने दो बालिगों के बीच इच्छा से बनाए गए संबंध को गैरकानूनी मानने वाली धारा 377 को रद्द करते हुए एलजीबीटी समुदाय को अपना साथी चुनने की 'आजादी' दी। आजादी इसीलिए क्योंकि बरसों से चले आ रहे भेदभाव को खत्म करने वाले दिन को इस समुदाय ने आजादी के रूप में मनाया गया। अब एक बार फिर से होमोसेक्सुअलिटी का मुद्दा हमारे सामने है और उम्मीद है कि इस बार कोई विमर्श सामने आए। हिंदी सिनेमा ने भी इस विमर्श को बढ़ाने में अपनी सक्रिय भूमिका निभाई है।

'एक लड़की को देखा तो ऐसा लगा' (2018) की भारतीय हिन्दी फिल्म है, जिसका निर्देशन शैली चोपड़ा धार ने किया है। इसमें मुख्य किरदार में अनिल कपूर, जूही चावला, राजकुमार राव और सोनम कपूर हैं। ये कहानी स्वीटी (सोनम कपूर) नाम की एक लेस्बियन है, जिसे कुहु (रेजिना कैसेंद्रा) से प्यार है। उसके परिवार वालों को इसके बारे में कुछ भी पता नहीं रहता है और वे लोग उसकी शादी एक लेखक, साहिल मिर्जा (राजकुमार राव) से तय करा देते हैं। बाद में पता चलता है कि वह साहिल मिर्जा से नहीं बल्कि एक लड़की से प्रेम करती है और उसके साथ रहना चाहती है। घरवालों के विरोध के बाद भी वह अपना निर्णय नहीं बदलती।

हाल ही में आयी आयुष्मान खुराना की फिल्म **'शुभ मंगल ज्यादा सावधान' (2020)** ने एक बार फिर होमोसेक्सुअलिटी के मुद्दे को सुर्खियां दी हैं। यह फिल्म दो लड़कों की प्रेम कहानी के इर्द–गिर्द बनी है। इसके साथ ही उस परिदृश्य को सामने रखती है जिसमें दो लड़कों या दो लड़कियों के प्रेम को समाज दुत्कार देता है। 'शुभ मंगल ज्यादा सावधान' ने हमारे समाज को आईना दिखाने का काम किया है। भले ही शीर्ष अदालत ने समलैंगिकता को अपराध मानने वाले कानून को निरस्त कर दिया हो लेकिन वह समाज की सोच को बदलने में नाकाम रहा है। इस बदलाव को हिंदी सिनेमा ने जनता तक पहुंचाने का कार्य सार्थक किया है।

हिंदी सिनेमा में सामाजिक मुद्दों से संबंधित फिल्में शुरुआती दौर से ही बनती रही हैं। जिसमें कुछ चर्चित फिल्मों के नाम इस प्रकार हैं–ओम जय जगदीश (2002), बागवान (2003), भूतनाथ (2008), पा (2009), तलाश (2012), बर्फी (2012), हाईवे (2014), मसान (2015), मेरी शादी में जरूर आना (2017), लुक्का चुप्पी (2019), वाला (2019), मरदानी–2 (2020), छपाक (2020), थप्पड़ (2020) आदि हैं।

2.2. राजनीतिक मुद्दों पर आधारित फिल्में

राजनीति एक ऐसा विषय है जिससे समाज, साहित्य, सिनेमा कोई भी अछूता नहीं रहा है। हिंदी सिनेमा के आरंभिक दौर से ही राजनीतिक विषय–वस्तु पर आधारित फिल्में बनी है जिसमें कुछ प्रमुख नाम इस प्रकार है– **गर्म–हवा (1973), किस्सा–कुर्सी (1974), आंधी (1975)** आदि है। सत्तर और अस्सी के दशक में राजनीतिक फिल्म की अधिकता पाई जाती है। इस बात से नकारा नहीं जा सकता कि इंदिरा गांधी सरकार का प्रभाव भारतीय समाज, साहित्य और सिनेमा सभी पर आज भी देखा जा सकता है। इमरजेंसी के दौर ने सभी को राजनीति का हिस्सा बना दिया था। 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा पर भी राजनीति का प्रभाव कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों के माध्यम से देख सकते हैं।

अनिल कपूर की फिल्म **'नायकः द रियल हीरो'** हम नहीं भूले हैं। 2001 में रिलीज हुई यह फिल्म 'एक आम आदमी के राजनीति में आने की कहानी है। फिल्म में एक साधारण इंसान (पत्रकार) को एक दिन के लिए मुख्यमंत्री की कुर्सी पर बैठने

का मौका दिया जाता है। फिर उसके बाद शुरू होती है प्रशासनिक प्रणाली को सुधारने और भ्रष्टाचार को खत्म करने की रोमांचक कहानी। इधर, दिल्ली में जब विधानसभा चुनाव हुए तो लोगों को अरविंद केजरीवाल में अनिल कपूर के इसी नायक को महसूस किया। अब 'नायक' की सीक्वल **'नायक–2'** बनाने जा रही हैं। इस फिल्म से हर सिनेमा दर्शक वाकिफ होगा, इस फिल्म का निर्देशन एस. शंकर ने किया है। फिल्म नायक में अनिल कपूर और अमरीश पुरी जैसे दिग्गज कलाकार मुख्य भूमिका में रहे हैं।

'परजानिया' (2005) पिछले साल शाहरुख खान स्टारर फिल्म **'रईस'** डायरेक्ट करने वाले राहुल ढोलकिया की पहली फीचर फिल्म थी। इसमें नसीरुद्दीन शाह और सारिका ने लीड रोल किया था। 'परजानिया' की रिलीज से पहले गुजरात में बजरंग दल जैसे संगठनों ने इसे बैन कर दिया था। उनकी हिंसा के डर से वहां के सिनेमाघरों ने इसे लगाने से मना कर दिया। ये फिल्म 2002 के गुजरात दंगों पर आधारित थी। इसके केंद्र में दस साल के पारसी लड़के अजहर का असली केस था, जो फरवरी में गुलबर्ग सोसायटी में हुए नरसंहार के दौरान गायब हो गया जिसमें 69 लोगों को कत्ल कर दिया गया था।

फिल्म **'सोनिया' (2005)** ये कहानी है इटली मूल की युवती सोनिया गांधी की जो बाद में भारत के सबसे बड़े राजनीतिक परिवार की बहू बनती है। उसे राजनीति बिल्कुल भी पसंद नहीं। उसकी सास इंदिरा है, जो देश की प्रधानमंत्री है। पति राजीव है जो भाई संजय की मौत के बाद न चाहते हुए भी राजनीति में आता है। सोनिया इसके लिए उसे मना करती है। फिल्म में बहुत ज्यादा मेलोड्रामा है जो इसे फनी बना देता है। टी.डी. कुमार ने इसे डायरेक्ट किया था। 2005 में फिल्म बन गई थी लेकिन पांच साल धक्के खाती रही। सेंसर बोर्ड ने इसे पास करने से मना कर दिया था। निर्माताओं से कहा कि पहले सोनिया गांधी से अनुमति ले। इस पर वे लोग बॉम्बे हाई कोर्ट गए। दो साल बाद कोर्ट ने इसे रिलीज करने की अनुमति दे दी। फिल्म में कोई भी स्टार या जाना पहचाना एक्टर नहीं था। अंत में यह फिल्म रिलीज नहीं हुई। **'फिराक' (2008)** फिल्म को नंदिता दास ने इसे निर्देशित किया। यह उनकी डेब्यू फिल्म **कहानी** के गुजरात दंगों के एक महीने बाद की है। नसीरुद्दीन

शाह, नवाजुद्दीन सिद्दीकी, रघुवीर यादव, शहाना गोस्वामी, दीप्ति नवल, परेश रावल, दिलीप जोशी ने इसमें प्रमुख रोल किए थे। गुजरात में ये फिल्म रिलीज नहीं हुई। कारण ये बताया गया कि वितरक लोग सिनेमाघर मालिकों से ज्यादा पैसा मांग रहे थे, जबकि निर्माताओं के मुताबिक ऐसा कुछ नहीं था। ये अघोषित बैन अन्य कारणों से था। हिंदी सिनेमा में यह भी देखा गया है कि बदलते राजनीतिक परिवेश का असर सिनेमा पर भी पड़ता है। किस सरकार के हित में फिल्म बनानी है या नहीं। या किसी फिल्म की कहानी सरकार विरोधी तो नहीं आदि बातें फिल्म जगत को प्रभावित करती आई हैं।

फिल्म **'राजनीति'** बालीवुड में जून 2010 में प्रदर्शित भारतीय राजनीति पर बनायी गयी फिल्म है। इसके निर्माता एवं निर्देशक प्रकाश झा है। जिन्होनें पूर्व में **'गंगाजल'** जैसी फिल्मों का निर्देशन एवं निर्माण किया है। इस फिल्म में कैटरीना कैफ, अजय देवगन, रणबीर कपूर, अर्जुन रामपाल, मनोज बाजपेयी एवं नाना पाटेकर मुख्य भूमिका में है। फिल्म–समीक्षकों के अनुसार, राजनीति फिल्म का ढांचा प्रसिद्ध महाकाव्य महाभारत से प्रेरित है। इस फिल्म की पटकथा मुख्यतः भारतीय राजनीति एवं महाभारत पर आधारित है जिसमें आज की राजनीति में अजय देवगन को कर्ण जैसी तथा नाना पाटेकर को श्रीकृष्ण की भुमिका निभाते हुए दिखाया गया है। इस फिल्म में विभिन्न राजनीतिक पहलुओं पर चर्चा की गयी है। इस फिल्म में एक राजनितिक दल एवं परिवार के आपसी फूट के कारण सृजित हुई महाभारत का चित्रण किया गया है। इस फिल्म के निर्देशक प्रकाश झा बताते हैं कि आपको महाभारत के पात्र तो हर जगह मिल सकते हैं, यह एक ऐसा महाकाव्य है, जिसमें सभी तरह के पात्र हैं, उसमें सभी तरह की मंशाएं और प्रवृत्तियां हैं, सभी प्रकार की मानसिकता और घटनाएं वहां मिल जाती हैं और परस्पर संबंधों की जटिलताएं भी महाभारत में हैं। 'राजनीति' में महाभारत के पात्रों के शेड्स मिल सकते हैं। किरदारों के बीच के संघर्ष में भी समानताएं दिखायी गयी हैं। इस तरह के एपिक से दर्शक स्वाभाविक रूप से प्रभावित होते हैं। राजनीति की पूरी फिल्मांकन भोपाल और उसके आसपास के इलाकों में हुई है। अन्ना हजारे देश के एक ऐसे व्यक्ति हैं, जिनका स्थान कुछ चुनिन्दा और सम्मानीय व्यक्तियों में है। जन लोकपाल बिल को पारित

करवाकर अन्ना ने ये साबित कर दिया था कि भारत में अब भी जनता की सरकार चलती है। देश के समाजसेवक अन्ना हजारे के कार्यों से प्रेरित और उन्हें अपना आदर्श मानने वाले नव निर्देशक शशांक उदपुरकर की इंडस्ट्री में उनकी पहली फिल्म है। इस बायोपिक के साथ बॉलीवुड में अपने निर्देशन की शुरुआत करते हुए शशांक उद्पुरकर ने अन्ना के जीवन की मुख्य झलकियाँ अपनी फिल्म के माध्यम से दिखाने की कोशिश की है। इस घटना से प्रेरित **'अन्ना' (2016)** फिल्म है।

अमिताभ बच्चन, सैफ अली खान और दीपिका पादुकोण के जोरदार अभिनय में बनी फिल्म **'आरक्षण' (2011)** भारतीय हिंदी ड्रामा फिल्म है। फिल्म भारत सरकार की ओर से सरकारी नौकरी और शिक्षण संस्थान में जाति आधारित आरक्षण की विवादास्पद नीति पर आधारित है। यह पूरी तरह से सामाजिक–राजनीतिक ड्रामा फिल्म है। फिल्म में प्रतीक बब्बर और मनोज बाजपेयी ने भी काम किया है।

'चक्रव्यूह' (2012) अर्जुन रामपाल, मनोज बाजपेयी, कबीर बेदी, अंजली पाटिल और अभय देओल द्वारा अभिनीत यह फिल्म नक्सलियों के मुद्दों पर आधारित एक तरह की सामाजिक टिप्पणी है। फिल्म का प्लॉट 1973 में निर्देशक ऋषिकेश की फिल्म श्नमक हरामश से प्रेरित है।

'सत्याग्रह' (2013) अमिताभ बच्चन, अजय देवगन, करीना कपूर, अर्जुन रामपाल, मनोज बाजपेई, मिताली जगताप, अमृता राव और विपिन शर्मा द्वारा अभिनीत भारतीय राजनीति पर आधारित है। फिल्म में अमिताभ बच्चन को एक ऐसे भारतीय नेता के रूप में दिखाया गया है जो कई राजनीतिक विषमताओं को मुद्दा बनाकर जनता के पक्ष में आंदोलन करते हैं। ऐसे में उनके कई समर्थक उनका साथ देते हैं और कई बीच में छोड़ भी देते हैं। आखिर में सब एक साथ हो जाते हैं और जनता के साथ खड़े इस भारतीय नेता के आंदोलन को सफलता मिलती है। फिल्म में अजय देवगन, अर्जुन रामपाल, अमिताभ बच्चन और करीना कपूर जैसी कलाकार मुख्य भूमिका में रहे हैं। यह फिल्म साल 2013 में आई थी। फिल्म की कहानी एक्सीडेंट में मारे गए बेटे के पिता के अनशन पर आधारित है। फिल्म में अमिताभ एक पूर्व शिक्षक के किरदार में है, जो अनुशासन और सत्य का साथ देता है। प्रधानमंत्री नरेंद्र मोदी

की बायोपिक **'पीएम नरेंद्र मोदी' 24 मई 2019** को रिलीज हुई थी। लोकसभा चुनाव 2019 के नतीजे के एक दिन बाद। फिल्म की रिलीज डेट कई बार बदली गई है। इस फिल्म को लेकर बहुत विवाद भी रहा है। इस फिल्म को पहले चुनावों के बीच में रिलीज किया जा रहा था, लेकिन विपक्ष ने इसका विरोध किया। उनका कहना था कि इस फिल्म से चुनाव आचार संहिता का उल्लंघन होगा। इस फिल्म में विवेक ओबेरॉय ने पीएम नरेंद्र मोदी का किरदार निभाया है। फिल्म का निर्देशन ओमंग कुमार ने किया है।

राजनीतिक मुद्दों पर आधारित कुछ अन्य फिल्में सरकार (2005), ओमकारा (2006), गुलाल (2009), रण (2010), सिंघम (2011), यंगिस्तान (2014), तलवार (2015), गब्बर इज बैक (2015), गांधीगिरी (2017), युगपुरुष अटल (2018), आदि हैं।

2.3. पौराणिक कथाओं एवं ऐतिहासिक मुद्दों पर आधारित फिल्में

आज के सिनेमा ने बेहद सामान्य से दिखने वाले महत्वपूर्ण विषयों को भी बड़ी संजीदगी से उठाया है। कुछ हद तक तो तमाम वर्जनाएं तोड़ते हुए ऐसे अनछुए विषय लिए हैं। जो हमारे बीच छुपे हुए होने पर कहीं न कहीं समाज के दिलो–दिमाग पर विकृति के तौर पर रहे हैं। ऐसा क्यों, कब, कहां, कैसे यह द्वितीयक हैं। भारत अपनी सांस्कृतिक विरासत के लिए विश्व में जाना जाता है। भारत का एक लंबा समृद्ध एवं गौरवपूर्ण इतिहास रहा है। जिसमें बहुत उतार–चढ़ाव भी आए हैं। हिंदी सिनेमा अपने इतिहास को जानने का एक अच्छा माध्यम है। लेकिन सिने जगत पर यह आरोप काफी पहले से लगता रहा है कि सिनेमा इतिहास को विकृत कर देता है जो इतिहासकारों को मंजूर नहीं है। यह समस्या साहित्य के साथ भी है। सिने जगत में पौराणिक एवं ऐतिहासिक विषय–वस्तु को लेकर काफी फिल्म बनी हैं। 20 वीं सदी में सिकंदर (1941), झांसी की रानी (1953), मुगल–ए–आजम (1960), शतरंज के खिलाड़ी (1977), रजिया सुल्तान (1983) आदि फिल्मों को देखा जा सकता है। लेकिन यह सिलसिला बंद नहीं हुआ। 21वीं सदी में भी पौराणिक कथाओं और ऐतिहासिक विषय को आधार बनाकर फिल्म बनाई जा रही हैं। **'अशोका' (2001)** फिल्म मौर्य–साम्राज्य के सम्राट अशोका पर आधारित है। जिसे

कलिंग युद्व में हुए नरसंहार को देख अपनी गलती का अहसास होता है। जिसके बाद वह विश्व में शांति का प्रसार करने के लिए बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेता है। कलिंग युद्ध 261 ईसा पूर्व में हुआ था। यह इतिहास के पन्नों में आज भी दर्ज है। किस प्रकार एक महासंग्राम ने एक राजा के जीवन को बदल दिया था। उसने बौद्ध धर्म को विश्व पटेल पर पहुंचा। राजा अशोक ने अपने पुत्र (महेंद्र) एवं पुत्री (संघमित्रा) को श्रीलंका भेज बौद्ध धर्म का प्रचार–प्रसार करवाया था। फिल्म के निर्देशक संतोष सिवान हैं। फिल्म में शाहरुख खान ने अशोका का किरदार निभाया था।

'मंगल पांडे' फिल्म (2005) क्रांतिकारी मंगल पांडे द्वारा 1857 की क्रांति का बिगुल फूंकने के लिए जानी जाती है। फिल्म में उस सैनिक के बारे में दिखाया गया है। जिसने देश के पहले स्वतंत्रता संग्राम का आह्वान किया था। फिल्म में ब्रिटिश ईस्ट इंडिया के भारतीय मूल सिपाही मंगल पांडे का किरदार आमिर खान ने निभाया था। वहीं रानी मुखर्जी, अमीषा पटेल और ओम पुरी ने भी अहम भूमिका अदा की थी। फिल्म का निर्देशन केतन मेहता ने किया था।

'जोधा–अकबर' (2008) फिल्म में ऋतिक रोशन और ऐश्वर्या राय ने अपने अभिनय से जनता का मन मोह लिया था। इस ऐतिहासिक फिल्म का निर्देशन आशुतोष गोवारिकर ने किया था। फिल्म में कुछ राजनीतिक परिस्थितियों के चलते एक बहादुर राजपूत राजकुमारी जोधा की शादी मुगल सम्राट अकबर से हो जाती है। शुरुआत में दोनों एक दूसरे से दूर–दूर रहते हैं हालांकि आगे चलकर दोनों को आपसी सम्मान की वजह से सच्चा प्यार हो जाता है। वहीं फिल्म में दूसरी तरफ अकबर के खिलाफ राजनीति और षड्यंत्र भी चलते रहते हैं। इस फिल्म को इतिहास से छेड़–छाड़ कहा गया है। जोधा का अकबर की पत्नी होना एक विवादास्पद प्रश्न है। इतिहास में कहा जाता है कि जोधा अकबर की नहीं जहांगीर की पत्नी थी।

'बाजीराव मस्तानी' (2015) मराठा साम्राज्य के पेशवा बाजीराव और उसकी दूसरी पत्नी मस्तानी के ऊपर आधारित है। संजय लीला भंसाली निर्देशित इस फिल्म में रणवीर सिंह और दीपिका पादुकोण ने यह दोनों मुख्य किरदार निभाए हैं। वहीं

प्रियंका चोपड़ा ने बाजीराव की पहली पत्नी का अभिनय किया है। 'बाजीराव मस्तानी' फिल्म को वर्ष का सर्वश्रेष्ठ फिल्म पुरस्कार एवं फिल्म फेयर पुरस्कार दिया गया था।

'पद्मावत' 2018 में रिलीज हुई इस फिल्म को लेकर काफी विवाद हुआ था। शुरू में इस फिल्म का नाम पद्मावती रखा गया था। हालांकि बढ़ते विवाद को देखते हुए फिल्म के निर्देशक संजय लीला भंसाली ने इस फिल्म का नाम बदलकर श्पद्मावतश रख दिया था। फिल्म में दीपिका पादुकोण, रणवीर सिंह और शाहिद कपूर ने मुख्य किरदार निभाया था। फिल्म की कहानी रानी पद्मावती के जीवन पर आधारित है। जो एक राजपूत शासक से विवाहित है और एक सुखी विवाहित जीवन व्यतीत करती हैं। पद्मावती के सौन्दर्य से आकर्षित होकर अत्याचारी सुल्तान, अलाउद्दीन खिलजी उनके राज्य पर आक्रमण करता है। पद्मावत भक्ति काल के प्रसिद्ध कवि जायसी की रचना भी है।

सन् 2018 में अभिषेक शर्मा के निर्देशन में **'परमाणु'** फिल्म को बनाया गया था। **'परमाणु' 1998** में भारत सरकार द्वारा राजस्थान के पोखरण में किए गए परमाणु परीक्षण पर आधारित है। इस फिल्म में जॉन अब्राहम और डायना पेंटी ने लीड रोल निभाया हैं। पहले से ही भारत पर विकसित देशों की नजर रही है। इस फिल्म के माध्यम से हम देखते हैं कि अमेरिका जो यह नहीं चाहता कि भारत में परमाणु परीक्षण हो। इसलिए अमेरिका द्वारा हमेशा भारतीय गतिविधियों पर निगरानी रखी जाती है। इतनी निगरानी के बावजूद भी भारतीय कौशल विश्व पटल पर अपना लोहा मनवाता है और कम लागत में सफल परमाणु परीक्षण करता है।

हाल के वर्षों में अक्षय कुमार द्वारा अभिनीत फिल्मों का विषय सामाजिक, राजनीतिक और ऐतिहासिक रहा है। अक्षय कुमार की फिल्म '**गोल्ड' (2018)** आजाद भारत के सबसे पहले ओलम्पिक गोल्ड पर आधारित है। जिसे भारत ने साल 1948 के ओलम्पिक खेलों के दौरान जीता था। इसी बात को ध्यान में रखते हुए इस फिल्म को 15 अगस्त के दिन रिलीज किया गया था।

कंगना रणावत की फिल्म **'मणिकर्णिकाः द क्वीन ऑफ झांसी'** की कहानी रानी लक्ष्मीबाई की जिंदगी पर आधारित है। फिल्म में कंगना ने रानी लक्ष्मीबाई की भूमिका

निभाई है। खास बात यह है कि इस फिल्म से टीवी स्टार अंकिता लोखंडे ने भी बॉलीवुड में डेब्यू किया है। फिल्म **'मणिकर्णिकाः द क्वीन ऑफ झांसी'** के कहानीकार के. वी. विजयेन्द्र प्रसाद और निर्माता कमल जैन, निशांत पिट्टी है।

'उरीः द सर्जिकल स्ट्राइक' सन् 2019 के निर्देशक आदित्य धर है। विहान सिंह शेरगिल (विक्की कौशल) भारतीय सेना में एक मेजर हैं। 2016 में उरी सेना के अड्डे पर एक संगठित हमले में, उसका जीजा (मोहित रैना) मारे गए सैनिकों में से एक है। दुखी विहान अपने बहनोई और देश दोनों के लिए बदला लेने की कसम खाता है।

अजय देवगन की फिल्म **'ताण्हाजी' (2020)** की कहानी सुबेदार तानाजी मालुसरे की जीवनी पर आधारित है। ये शिवाजी की फोज के सेनापती थे। जो दुश्मनों के काफिले में जाकर विजय का परचम लहराते हैं। इस फिल्म के निर्देशक ओम राउत हैं। 21वीं सदी में ऐतिहासिक फिल्मों में बढ़ोतरी हुई है जिसमें कुछ अन्य फिल्में इस प्रकार हैं– बाहुबली (2015), मोहनजोदारो (2016), द गाजी अटैक (2017), रंगून (2017), बादशाहो (2017), रागद्वेष (2017), भागमती (2018), ठग्स ऑफ हिंदुस्तान (2018), राम की जन्मभूमि (2019), पानीपत (2019), केसरी (2019), बटालियन 609 (2020) आदि हैं।

2.4. साहित्यिक कृतियों का फिल्मी रूपांतरण

हिंदी सिने जगत में साहित्यिक कृतियों पर आधारित फिल्मों का कम बनना कला फिल्मों में गिरावट का कारण माना जा सकता है। हिंदी की साहित्यिक कृतियों पर फिल्म न बनने का शोर साठ के दशक में सरकारी वर्ग तक भी पहुँचा। फिल्म वित्त निगम ने आगे बढ़कर सरकारी खर्च पर अनेक ख्याति प्राप्त साहित्यकारों की कृ तियों पर फिल्मों का निर्माण कराया। इनमें से अधिकांश फिल्में डिब्बों में बंद हैं। कुछ फिल्में गिने–चुने स्थानों पर रिलीज जरूर हुईं लेकिन वे इतनी नीरस और शुष्क थीं कि सीमित बौद्धिक वर्ग के अलावा किसी ने उनकी चर्चा तक नहीं की। इन फिल्मों को बनाने वाले अधिकतर फिल्मकारों ने फिल्म तकनीक का तो ध्यान रखा लेकिन दर्शक उनकी प्राथमिकता में नहीं थे। "राही मासूम रजा लगभग 25 साल फिल्म

जगत से जुड़े रहे। उन्होंने तीन सौ से अधिक फिल्मों की पटकथा और संवाद लिखें। उन्होंने अच्छी–बुरी सभी तरह की फिल्में लिखी। वह बहुत यथार्थवादी थे और सफाई से कहते थे कि फिल्म में लेखक की कोई अहम भूमिका नहीं होती फिर भी मैं अपनी बात कहने के लिए फिल्म का कुछ हिस्सा हथिया लेता हूं। उनकी कुछ सफल और महत्वपूर्ण फिल्में है– 'वैराग', 'फांसी', 'हत्यारा', 'प्रेम–कहानी', 'दो प्रेमी' आदि। उन्हें संवाद और पटकथा के लिए तीन बार फिल्म फेयर पुरस्कार मिला। परंतु राही की पहचान दूरदर्शन के छोटे पर्दे पर ही एक लेखक के रूप में बनी। उन्होंने अनेक सफल धारावाहिक लिखे। लेकिन महाभारत के संवादों और पटकथा ने उन्हें अमर बना दिया।"[31]

दरअसल हिंदी साहित्यिक कृतियों पर सफल फिल्म न बन पाने के कई कारण हैं। साहित्य लेखन अलग विधा है। कहानी या उपन्यास का सृजन एक नितांत व्यक्तिगत कर्म है। जबकि फिल्म लेखन में निर्देशक, अभिनेता–अभिनेत्रियों यहाँ तक की कैमरामैन को निर्देशक की दृष्टि पर निर्भर रहना पड़ता है। फिल्म एक लोक विधा है। साहित्य शिक्षितों की विधा है। फिल्म तो रामलीला और लोकनाट्य की तरह आम जनता तक अपनी बात पहुँचाती है। हिंदी के कई साहित्यकार इस तथ्य को स्वीकार नहीं कर पाए।

इसके अलावा प्रेमचंद के समय से ही फिल्म निर्माताओं ने लेखक को वह महत्त्व नहीं दिया जिसका वह अधिकारी होता है। सिनेमा में लंबे समय तक लेखक दोयम दर्जे की हैसियत का समझा जाता रहा है। यह स्थिति अधिकांश साहित्यकारों को स्वीकार्य नहीं हुई। यह कहना गलत नहीं होगा कि अनेक साहित्यकारों ने फिल्मी दुनिया में अपने लिए जगह तो चाही लेकिन फिल्मकारों और स्थितियों से तालमेल नहीं बन सका। लेकिन यह सौभाग्य की बात है कि हिंदी सिनेमा को बहुत से समर्थ कवियों और साहित्यकारों का आशीष प्राप्त हुआ। भरत व्यास, कवि प्रदीप, गुलजार, मजरुह सुल्तानपुरी, शकील बदायूँनी, प्रेमधवन, शैलेन्द्र, कैफी आजमी, साहिर लुधियानवी, जावेद अख्तर, आनंद बख्शी, निदा फाजली, हसन कमाल, हसरत जयपुरी, गुलशन बाँवरा, गोपालदास नीरज आदि कवियों द्वारा लिखे गए गीतों ने

[31] सिनेमा और संस्कृति, राही मासूम रजा, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2003, भूमिका से

हिंदी सिनेमा को नई पहचान दी। तो वहीं पटकथा लेखन में प्रेमचंद्र, कमलेश्वर, भवानीप्रसाद मिश्र, राही मासूम रजा, मनोहरश्याम जोशी, आदि ने अपनी किस्मत आजमायी थी। परंतु दुर्भाग्य की यह बात है कि इनमें कुछ लोगों को ही सफलता मिल पाई। जयशंकर प्रसाद ने लिखा है, "नाटकों के संबंध में लोगों का कहना है कि उनके बीच वैदिक संवादों में मिलते हैं। वैदिक काल में भी अभिनय संभवत बड़े–बड़े यज्ञो के अवसर पर होते थे। भारत के नाट्यशास्त्र की रचना के पूर्व भारत में नाटक की परंपरा थी। जिन नाटककारों और नाट्यकृतियों की नाट्यशास्त्र में चर्चा की गई है उनमें से भास को छोड़कर किसी की नाट्य कृति उपलब्ध नहीं है।"[32]

साहित्यिक कृतियों पर आधारित कुछ महत्वपूर्ण फिल्मों के माध्यम से उनकी सफलता और असफलता का अंदाजा लगाया जा सकता है।

'देवदास' (1955) शरतचंद चट्टोपध्याय के मशहूर उपन्यास 'देवदास' पर साल 1955 में फिल्म बनाई गई। 2002 में शाहरुख खान ने भी इसी किताब पर आधारित देवदास फिल्म में मुख्य किरदार निभाया। पी.सी. बरुआ ने 1935 से 1937 के दौरान फिल्म देवदास की क्रमशः बांग्ला, हिंदी और असमिया संस्करणों को निर्देशित किया था। "हिंदी में बरुआ के बाद विमल राय 1955 और संजय लीला भंसाली 2002 की सूची में शामिल हुए। सन् 1935 में बनी बरुआ की फिल्म देवदास का छायांकन विमल राय ने किया था और तब विमल राय के पास बरुआ के निर्देशों का पालन करने के अलावा कोई चारा नहीं था। चिदानंद दासगुप्ता के शब्दों में कहें तो, फिल्म निर्माण के हर चरण में बरुआ तानाशाह की तरह पेश आते रहे। सन् 1955 की देवदास विमल राय का वह सपना था जो उन्हें पिछले बीस साल से परेशान कर रहा था। इसके लिए उन्होंने पटकथा, संवाद, संगीत, गीत एवं कैमरा ही नहीं कलाकारों का चयन भी तत्कालीन समय में उपलब्ध श्रेष्ठतम रूप से किया। विमल राय की देवदास भी एक सफल फिल्म साबित हुई।"[33] **'पिंजर' सन् 2003** में बनी हिन्दी भाषा की नाट्य फिल्म है। यह चंद्रप्रकाश द्विवेदी द्वारा निर्देशित है। फिल्म भारत के

[32] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्रा, कनिष्क पब्लिकेशन, संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 195

[33] साहित्य और सिनेमा बदलते परिदृश्य में संभावनाएं और चुनौतियां, संपादक डॉ शैलजा भारद्वाज, चिंतन प्रकाशन, हंसपुरम कानपुर, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या 25

विभाजन के दौरान हिंदुओं और मुसलमानों की समस्याओं के बारे में है। यह फिल्म अमृता प्रीतम द्वारा लिखित इसी नाम के एक पंजाबी उपन्यास पर आधारित है। उर्मिला मातोंडकर, मनोज बाजपेयी और संजय सूरी प्रमुख भूमिकाओं में हैं। आलोचकों की प्रशंसा के अलावा, फिल्म ने राष्ट्रीय एकता पर सर्वश्रेष्ठ फीचर फिल्म के लिए राष्ट्रीय फिल्म पुरस्कार जीता था।

'मकबूल' (2003) फिल्म के लिए इरफान खान को कई अवॉर्ड मिले। मकबूल फिल्म का डायरेक्शन विशाल भारद्वाज ने किया। फिल्म की कहानी शेक्सपियर के नाटक 'मैकबेथ' पर आधारित थी। **'ओमकारा' (2006)** विशाल भारद्वाज ने बनाई थी। फिल्म की कहानी शेक्सपियर के नाटक 'ओथेलो' पर आधारित थी। फिल्म में अजय देवगन, करीना कपूर, सैफ अली खान समेत कई सितारे थे।

शरतचंद्र चट्टोपाध्याय के '**परिणीता'** उपन्यास पर लगभग 5 फिल्में बन चुकी हैं। पहली फिल्म **'परिणीता'** पशुपति चटर्जी की थी। हिंदी में 1969 में अजय कर एवं 1976 में अरुण गांगुली ने 'संकोच' नाम से परिणीता को पर्दे पर उतारा। तो वहीं 1953 में विमल राय एवं 2005 में प्रदीप सरकार द्वारा बनाई गई परिणीता ज्यादा सराही गई। प्रदीप सरकार ने इस इतिहास को आधुनिक क्लासिक का रूप दिया। इस कथा के ललिता और शेखर नामक पात्र को एकांत में माला बदलकर परिणय करने पर अडिग रहने की साधारण संवेदना को शरतचंद्र ने असाधारण रूप प्रदान किया है। "विमल राय की 'परिणीता' तत्कालीन समाज की जाति–बिरादरी एवं दहेज की समस्या को समेटकर शरतबाबू की मूल संवेदना को ज्यों का त्यों रखकर बनाई गई फिल्म थी। डॉ.सत्यदेव त्रिपाठी के शब्दों में कहे तो विमल दा का तो मानना था कि यदि आप मूल से अच्छा लिख सकते हैं तो नया लिखिए किसी रचना को क्यों बिगड़ते हैं। यानी उसी थीम पर नई कहानी लिखी जाए। कला व साहित्य चेतना की शुद्धतावादी मूल दृष्टि पर चलकर विमल दा ने कुछ नहीं बदला। वे तो संवाद तक

को भरसक मूल लेखक का ही रखना चाहते थे और रखते थे।"[34] फिल्म में सैफ अली खान, संजय दत्त और विद्या बालन मुख्य भूमिका में थे।

'थ्री इडियट्स' फिल्म चेतन भगत के नॉवेल **'फाइव पॉइंट समवन'** पर साल 2009 में राजकुमार हिरानी ने बनाई थी। आमिर खान फिल्म में मुख्य भूमिका में थे। इस फिल्म के माध्यम से शिक्षा जगत और समाज को एक नई दृष्टि देने का कार्य किया गया था।

'सात खून माफ' (2011) फिल्म रस्किन बॉन्ड की किताब **'सुजैन्स सेवेन हस्बैंड'** पर आधारित है। विशाल भारद्वाज ने फिल्म को डायरेक्ट किया। फिल्म में मुख्य भूमिका में प्रियंका चोपड़ा थीं। यह एक ट्रेजेडी कहीं जा सकती है। इसमें मुख्य पात्र सुजैन सात विवाह करने के बाद भी प्यार और सम्मान नहीं प्राप्त कर पाती है। अंत में अपने छह पतियों की हत्या कर देती है।

विशाल भारद्वाज ने हैदर फिल्म का निर्देशन किया। इस फिल्म की कहानी शेक्सपियर के नॉवेल हैमलेट पर आधारित थी। हालांकि फिल्म के कुछ हिस्से नॉवेल से काफी अलग थे। **हैदर को 2014** के लिए राष्ट्रीय पुरस्कार से भी सम्मानित किया गया।

'टू स्टेट्स' (2014) आलिया भट्ट और अर्जुन कपूर की फिल्म साल 2014 की सफल फिल्मों में शामिल रही। ये फिल्म चेतन भगत के नॉवेल **'टू स्टेट्स'** पर आधारित थी। फिल्म में पंजाब के लड़के और दक्षिण भारत की लड़की के बीच प्रेम संबंध और विवाह को दिखाया गया है। साथ ही उत्तर–भारत और दक्षिण–भारत के रीति–रिवाजों को भी समाज के सामने प्रदर्शित किया गया है।

मशहूर लेखक काशीनाथ सिंह के उपन्यास **'काशी का अस्सी'** पर आधारित फिल्म **'मोहल्ला अस्सी' (2018)** चंद्रप्रकाश द्विवेदी द्वारा निर्देशित की गई थी। यह फिल्म विवादों की आंच और सेंसर को झेलकर छह साल बाद सिनेमाघरों तक पहुंच पाई थी। वैश्वीकरण के चपेट में आ रहे बनारस आस्था के नाम पर पाखंड करने

[34] साहित्य और सिनेमा बदलते परिदृश्य में संभावनाएं और चुनौतियां, संपादक डॉ शैलजा भारद्वाज, चिंतन प्रकाशन, हंसपुरम कानपुर, संस्करण 2013, पृष्ठ संख्या 26

वालों पर करारी चोट करती है। फिल्म मोहल्ला अस्सी में धर्मनाथ पांडेय (सनी देओल) संस्कृत के अध्यापक हैं, शिवभक्त हैं। धर्मनाथ अपने सिद्धांतों पर अडिग हैं। उन्होंने न सिर्फ अपने घर को, बल्कि पूरे मोहल्ले को बाजारवाद की हवा से दूर रखा है। बनारस में कई विदेशी चेहरे नजर आते हैं जो अस्सी में रहने का ठिकाना ढूंढते हैं। लेकिन ब्राह्मणों के इस मोहल्ले में विदेशियों का रहना अस्वीकार्य है। धर्मनाथ पांडेय के अनुसार, "विदेशियों ने अस्सी घाट को बाजार बना दिया है।" गाइड बने गिन्नी (रवि किशन) को धर्मनाथ कहते हैं, "गंगा हमारे लिए नदी नहीं है, मैया है.. और मैं गंगा को विदेशियों का स्विमिंग पूल नहीं बनने दूंगा।"

बनारस में ब्राह्मणों का मोहल्ला भोले बाबा का घर है। तो मोहल्ले में पप्पू के चाय की दुकान एक राजनीतिक गलियारा। वहां की प्रकृति समझाते हुए निर्देशक कहते हैं– "हिंदुस्तान में संसद दो जगह चलती है एक दिल्ली में और दूसरी मोहल्ला अस्सी के चाय की दुकान पर।" बनारसी सभ्यता और गाली–गलौज से परिपूर्ण फिल्म **'मोहल्ला अस्सी' (2018)** बहुत चर्चित रही थी। 21वीं सदी में साहित्यिक कृतियों पर आधारित कुछ फिल्में इस प्रकार है– वीर जारा (2004), खामोश–पानी (2004), पहेली (2005) हैलो (2008), अनवर (2007), टोबा टेक सिंह (2017), मोहल्ला अस्सी (2018) आदि हैं।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि हिन्दी सिनेमा ने समय की आवाज को पहचानते हुए हर तरह की फिल्में बनाईं हैं। आज के समय की फिल्मों के विषय व्यापक हैं। उद्देश्यपरक और समाधानात्मक फिल्में इस दौर की उपलब्धियां हैं। बीते जमाने की फिल्मों के मुख्य विषय–प्रेम के त्रिकोण, खलनायक की अनिवार्यता, काल्पनिक कथानक और एक अति–आदर्श चरित्र जिसे संघर्षशील तथा अंत में विजेता दिखाया जा सके बस इतना ही होता था। मगर उसमें शैली की विविधता कम पाई जाती थी। भाव प्रधान गीत–संगीत होने की वजह से अद्‌भुत प्रभाव छोड़ने में सक्षम होता थीं। फिल्में संगीत प्रधान होती थीं। मधुर संगीत एक महत्वपूर्ण पक्ष होता था। उत्कृष्ट, मधुर, कर्णप्रिय एवं अर्थपूर्ण शब्दावली से सजे गीत मन की भावभूमि पर उतरने में सक्षम संगीत के कारण बीते युग को हिन्दी फिल्मों के संगीत का स्वर्ण युग कहना अतिश्योक्ति नहीं होगी। उस दौर की नायिकाएं बेहतरीन

अदाकारा होने के बावजूद, वो मान–सम्मान और पैसा न पा सकी जो आज की नायिकाओं को हासिल है।

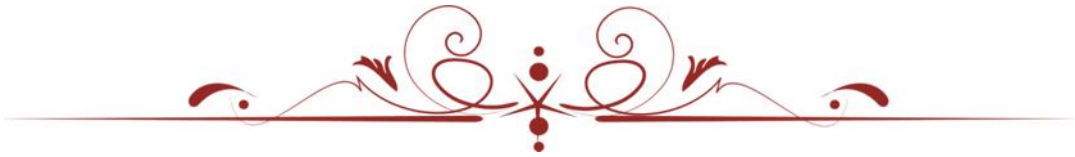

तृतीय अध्याय
स्त्री चरित्र प्रधान फिल्मों का सम्यक् परिचय

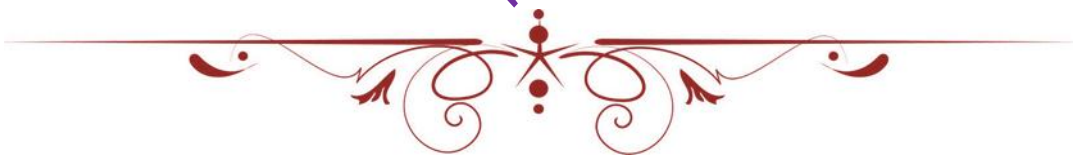

तृतीय अध्याय
स्त्री चरित्र प्रधान फिल्मों का सम्यक् परिचय

हिंदी नाटक अपने आरम्भ से ही नायक प्रधान रहा है। किंतु हिंदी नाटकों ने कुछ अविस्मरणीय स्त्री चरित्र भी दिए हैं। जिनमें शकुन्तला, मेघदूतम की यक्षिणी, रघुवंशम की इंदुमती, सीता, सावित्री, उर्मिला आदि विशिष्ट हैं। हिंदी सिनेमा भी अपने आरम्भिक दौर में स्त्री विमुख रहा है। जिसमें अभिनय के लिए अभिनेत्री की भागीदारी सुनिश्चित कराना चुनौतीपूर्ण था। क्योंकि भारतीय फिल्मों में प्रारंभ में काम करने के लिए स्त्रियाँ नहीं आती थी। जिसका कारण भारत में प्राचीन काल से ऐसी अवधारणा थी कि नाच–गाने की प्रस्तुति करने वाली स्त्रियां अविश्वसनीय होती है। उनका चरित्र अच्छा नहीं माना जाता था। "20 वीं सदी की शुरुआत में जब दादा साहब फालके ने 1913 में राजा हरिश्चंद्र फिल्म बनाने का फैसला किया तब फिल्मों में काम करने के लिए पुरुष तो तैयार हो गए। लेकिन महारानी तारामती के किरदार को निभाने के लिए कोई महिला राजी नहीं हुई। यहाँ तक कि वेश्याओं ने भी इसे अपनी गरिमा के खलाफ समझ कर काम करने से इंकार कर दिया। दादा साहब फालके क्या करते? मजबूर होकर होटल के वेटर अन्ना सालुंके को मना लिया और महिला की वेशभूषा में तारामती के रूप में पेश कर दिया।"[35]

भारत की पहली नायिका निजी जीवन में पुरुष थी। लेकिन फिल्मों में नारी की मौजूदगी के बिना पर्दे पर जीवन को दिखाना मुमकिन नहीं था। जिस तरह सिक्के के दो पहलू होते हैं। उसी तरह से हिंदी सिनेमा में स्त्री और पुरुष दोनों की भागीदारी का अपना महत्व है। दादा साहब फालके ने फैसला किया कि अपनी अगली फिल्म के लिए वह किसी महिला को मना लेंगे और उनकी तलाश पूरी हुई। "उन्होंने फिल्म **'भस्मासुर मोहिनी'** में काम करनेवाले के लिए कमलाबाई गोखले को मना लिया।"[36] मराठी नाटकों में काम करने वाली कमलाबाई भारत की हिंदी सिनेमा की पहली अभिनेत्री मानी जा सकती हैं। उन्हें देखकर दूसरी महिलाओं ने भी फिल्मों

[35] सिनेमा में नारी, शमीम खान, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 15
[36] वही पृष्ठ संख्या 16

में कार्य करने की हिम्मत जुटाई। उन महिलाओं का पहला संघर्ष स्वयं से ही था क्योंकि उन बन्धनों को स्त्री ने अपना भाग्य मान रखा था। तत्पश्चात वह पति, भाई, पिता, परिवार, भारतीय समाज की रूढ़िवादी व्यवस्था आदि तमाम चीजों से जूझती हुई पर्दे पर आई।

स्त्री भागीदारी को बढ़ाने में भारतीय निर्देशकों का बड़ा महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। भारतीय परंपरागत समाज में स्त्री प्रश्नों को केंद्र में लाने का महत्वपूर्ण प्रयास हिंदी सिनेमा में पहली सवाक फिल्म (1931) 'आलमआरा' आर्देशिन ईरानी के निर्देशन से ही शुरू हो गया था। इस फिल्म में आलमआरा का अभिनय जुबेदा और 'आदिल' का अभिनय मास्टर विट्ठल ने निभाया था। 1912 से 1930 तक मौन सिनेमा के माध्यम से तथा उसके बाद लगातार बदलती छवि ने समाज में अभूतपूर्व बदलाव किए। बीसवीं सदी के तीन दशक बाद "1935 में होमी वाडिया के निर्देशन में बनी फिल्म हंटरवाली ने स्त्री के अबला रूप का फ्रेम तोड़ कर रॉबिनहुड की तरह पेश किया। गरीबों और अत्याचार के खिलाफ लड़ने वाली समाज की मददगार के रूप में इस फिल्म की नायिका फिल्म के माध्यम से **'फियरलेस नादिया'** के नाम से पहचानी जाने लगी। यह फिल्म सुपर विमेन का कंसेप्ट देकर हिंदी सिनेमा को एक नई थीम और नया उद्योग सौंप गई इस फिल्म में नायिका के अभिनय से समाज में क्रांति की लहर दौड़ गई और प्रभावित महिलाएं घर के बाहर की दुनिया से रूबरू होने लगी थी। नायिका का स्वयं चलती ट्रेन के ऊपर दौड़ना, घोड़े की सवारी, शेर के पिंजरे में खाली हाथ जाना, चाबुक लेकर सताने वालों की धुनाई करना, अनेक ऐसे काम दिखाए गए।"[37] जिसके परिणामस्वरूप स्त्री को सबला होने की चेतना की एक नई दिशा मिली।

इसके बाद हिंदी सिनेमा ने एक अलग विषय व शीर्षक की फिल्म से भारतीय समाज को परिचित कराया। जो शायद वर्तमान समय में भी इतना आसान नहीं हो सकता है। यह दौर भारतीय समाज के परतंत्र से स्वतंत्र होने के संघर्ष का था। जिसमें गांधी जी के विचारों का प्रभाव स्त्री व समाज के प्रत्येक वर्ग पर देखा जा

[37] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्र, कनिष्क पब्लिकेशन हाउस, पृष्ठ संख्या 65

सकता है। उनके विचारों से प्रभावित निर्देशक **फ्रेंच ऑस्टिन ने 1936** में **'अछूत कन्या'** के माध्यम से बताना चाहा कि महानता और अच्छे गुणों का किसी जाति विशेष से कोई संबंध नहीं है। व्यक्ति जन्म से नहीं कर्म से बड़ा होता है। "'अछूत कन्या' जातिवाद की वेदी पर एक अछूत लड़की कस्तूरी और ब्राह्मण पुत्र प्रताप के बचपन की दोस्ती से लेकर युवा अवस्था में प्रेम की गाथा है। दोनों के मां–बाप उनकी भावनाओं के खिलाफ उनकी शादी करवा देते हैं जिसका परिणाम कस्तूरी के ट्रेन की चपेट में आकर मर जाने से होता है। जाति भेद और छुआछूत पर निशाना साधने के कारण कट्टरपंथी हिंदुओं ने 'अछूत कन्या' का काफी विरोध किया। लेकिन यह फिल्म हिट रही खासकर युवाओं ने इसे काफी पसंद किया उस दौर में सामाजिक बंधनों, नैतिक मान्यताओं के कारण युवा अपनी भावनाएं दबाकर जीते थे उनमें विद्रोह करने का साहस नहीं।"[38] जात–पात, ऊंच–नीच के बंधनों को तोड़ने और प्रेम का संदेश देने वाली यह फिल्म मात्र स्त्री विमर्श ही नहीं अपितु दलित विमर्श की नींव डालने का भी काम करती है। 'अछूत कन्या' इतिहास में एक मील का पत्थर फिल्म मानी जाती है।

फिल्म **'अछूत कन्या'** को देखते समय हिंदी साहित्य के प्रसिद्ध उपन्यासकार धर्मवीर भारती का उपन्यास **'गुनाहों का देवता'** याद आता है। जिसमें चंदर और सुधा के प्रेम के अव्यक्त और अलौकिक रूप का अन्यतम चित्रण है। चन्दर का नैतिक मूल्यों के समकक्ष अपने प्रेम को कुर्बान कर देना और अन्त में सुधा की मृत्यु पाठको को भावुक होने पर विवश कर देती है। हिन्दी सिनेमा और साहित्य का सम्बंध अटूट है। क्योंकि दोनों के केन्द्र में समाज रहा है। सामाजिक बदलाव और कुरीतियों के खिलाफ आवाज उठाना दोनों के मुख्य बिन्दु रहे हैं हिंदी सिनेमा में महबूब अली के योगदान को कैसे भुलाया जा सकता है। 1940 में उनके निर्देशन में आई 'औरत' को (A) वर्ग मतलब (एडल्ट) फिल्म घोषित कर, **'सूचना व प्रसारण मंत्रालय'** जिसे 1951 में **'सेंसर बोर्ड'** का नाम दिया गया रिलीज होने पर रोक लगा दी थी। वजह यह थी कि उसमें नायिका बिना दुपट्टे के परदे पर दिखाई गई थी। परंतु उन्होंने

[38] सिनेमा में नारी, शमीम खान, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 37

अपना संघर्ष समाप्त नहीं किया और 1957 में एक ऐसी फिल्म लेकर हमारे सामने प्रस्तुत हुए जिसे आज भी हिंदी सिनेमा में बड़ा हस्तक्षेप माना जाता है।

'मदर इंडिया' (1957) भारत की पहली टेक्निकल फिल्म थी। जिसने भारतीय मां, आदर्श नारी की तस्वीर को बदलने का प्रयास किया। "जब राधा का बेटा बिरजू लाला की बेटी को विवाह मंडप से उठा लाता है। राधा उसे रोकने की कोशिश करती है। लेकिन वह नहीं मानता तो उस पर बंदूक तान देती है बिरजू कहता है, 'तुम मुझे मार नहीं सकती, तू मेरी मां है' राधा कहती है, 'मैं एक औरत भी हूं'। गोली मारते समय राधा के चेहरे पर एक आदर्श नारी के दृढ़ता का भाव है लेकिन बिरजू को गोली लगते ही दृढ़ता के भाव ममत्व भाव में बदल जाते हैं। दरअसल राधा का संघर्ष व्यक्तिगत नहीं अपितु गांव और स्त्री की अस्मिता का संघर्ष है।"[39]

स्त्री अस्मिता के प्रश्न को लेकर हिंदी सिनेमा पहले से ही संवेदनशील रहा है जिसने स्त्री विमर्श की नींव ही नहीं स्त्री से संबंधित विचार, विवेचन, परामर्श, चर्चा, जीवन से जुड़े संघर्ष एवं अस्तित्व पर मंथन किया है। स्त्री विमर्श स्त्री को सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक तथा मानसिक शोषण से मुक्त करके पुरुष के समान सहभागिता का स्थान प्रदान कर उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को समाज में प्रतिष्ठित कराना ही हिंदी सिनेमा व साहित्य का मुख्य उद्देश्य रहा है। प्रेम जीवन का महत्वपूर्ण पहलू होता है सब जगह व्याप्त होने के बाद भी लोग समाज के सामने स्वीकार करने में हिचकते हैं। **1960 में 'आसिफ'** के निर्देशन में दस साल की मेहनत से बनी **'मुगल–ए–आजम'** भारतीय सिनेमा की ऐतिहासिक परिकथा मानी जाती है। इसमें सम्राट का बेटा सलीम सुंदर वेश्या अनारकली के प्रेम में अपने पिता व समाज के खिलाफ एक निराशाजनक युद्ध छेड़ देता है। यह फिल्म पाकीजगी की रूमानियत और मादकता की ऐसी मिसाल बन गई। जिसकी बराबरी सिने इतिहास का कोई रोमांटिक दृश्य नहीं कर सकता। श्जब प्यार किया तो डरना क्याश जैसे गीतों के माध्यम से समाज के सम्मुख प्रेम करने की स्वतंत्रता व उसे स्वीकार करने का साहस इस फिल्म का सार है। इसके बाद **1976 में 'लैला–मजनू'** की लैला ने एक बार पुनः

[39] सिनेमा में नारी, शमीम खान, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 48

प्रेम की गुहार लगाते हुए समाज के समक्ष कहा "कोई पत्थर से ना मारे मेरे दीवाने को हुस्न हाजिर है मोहब्बत की सजा पाने को।"

70 के दशक में गुलजार ने कमलेश्वर की कहानी पर आधारित फिल्म **'आंधी'** में एक होटल प्रबंधक और एक राजनेता की इकलौती बेटी के प्रेम में बनते बिगड़ते रिश्तो को दिखाते हुए राजनीति में स्त्री की उपस्थिति व महत्व पर प्रश्न खड़ा किया था। इस फिल्म पर प्रधानमंत्री इंदिरा गांधी के राजनीतिक जीवन की छाप दिखाई पड़ती है। पिता के विवाह विरोध के बाद भी वैवाहिक जीवन में परिवेश और शादी के बाद परिवार और राजनीतिक महत्त्वाकांक्षा का द्वंद्व आरती को दोहरे पड़ाव पर ले आता है। पति का राजनीतिक काम को नापसंद करना आरती को परिवार छोड़ने पर मजबूर कर देता है। उसका वैवाहिक जीवन को त्याग राजनीति में आगे बढ़ना नारी की बदलती प्राथमिकताओं और उसके निर्णयन क्षमता को दिखाता है।

राजा राममोहन राय, दयानंद सरस्वती, स्वामी विवेकानंद, ज्योतिबा फुले, भीमराव अम्बेडकर जैसे महान सामाजिक कर्ताओं के प्रयासों से **1856 में 'विधवा पुनर्विवाह अधिनियम'** पारित हुआ था। इतने वर्षों के बाद भी हम विधवा पुनर्विवाह को जमीनी स्तर पर सही से लागू नहीं करा सके। इसके महत्व को लोगों तक पहुंचाने का कार्य हिंदी सिनेमा ने **'प्रेम रोग' (1982)** फिल्म की सुखांत समाप्ति से करने की कोशिश की थी। राज कपूर ने एक इंटरव्यू में कहा था, "हम भारतीय बड़े पाखंडी होते हैं। जब अपने देश को सर्वोच्च सम्मान देना होता है तो उसे भारत माता कहते हैं परंतु वास्तव में हम अपनी महिलाओं से निष्कृत व्यवहार करते हैं। इस देश में औरतें सरेआम बेइज्जत की जाती हैं, जिंदा जलाई जाती हैं, और उनके साथ गुलामों सा बर्ताव किया जाता है किसी और देश में इतने बलात्कार और बहुओं को जलाने के मामले सामने नहीं आते जितने भारत में! हमारे देश में बेटी के जन्म को श्राप माना जाता है क्यों? ऐसा क्यों होता है? औरत के साथ? आज जब विज्ञान ने इतनी तरक्की कर ली है फिर भी हम अमानवीय परंपराओं की बेड़ियों में जकड़े हुए हैं इस

विषय ने मुझे इतना उद्वेलित किया कि मैंने इसी शीर्षक (प्रेमरोग) से फिल्म बनाने का निर्णय लिया।"[40]

1991–1992 ने उदारीकरण, औद्योगिकरण, पूँजीवादी के फैलते प्रभाव से प्रत्येक वर्ग (समाज, साहित्य, सिनेमा) को नई दिशा प्रदान की और सभी को बाजार का हिस्सा बना दिया। अब नारी अबला से सबला व क्रांतिकारी रूप में भी दिखने लगी। **1994 में फूलन देवी** के व्यक्तिगत जीवन पर आधारित फिल्म **'बैंडिट क्वीन'** ने समाज में यौन–उत्पीड़न और भेदभाव के खिलाफ मजबूत आवाज उठाई। यह फिल्म दलित स्त्री होने दोनों की पीड़ा को बयां करती है। बाल विवाह, शोषण, अत्याचार की शिकार फूलन को घटनायें और परिस्थितियां एक गिरोह का प्रमुख बनने के लिए विवश करती हैं। आत्मसम्मान और उपेक्षितों की रक्षा के लिए हाथ में हथियार उठाकर उसने अपनी स्वतंत्रता का बिगुल बजा दिया था। स्वतंत्रता इतनी आसान नहीं थी। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध में हिंदी सिनेमा ने पूरे भारतवर्ष में विभिन्न विमर्शो को जन्म दिया जिसमें स्त्री विमर्श, दलित विमर्श, आदिवासी विमर्श, किन्नर विमर्श, अल्पसंख्यक आदि हैं।

3.1. 21वीं सदी के प्रथम दशक की स्त्री चरित्र प्रधान फिल्में

21वीं सदी के प्रथम दशक में स्त्री–समस्या केंद्रित फिल्मों का निर्माण कम हुआ। दरअसल अधिकतर हिंदी फिल्मों में स्त्री को आदर्शवादी, ममतामयी माँ, बहन, भाभी, पुत्री, पत्नी और प्रेमिका के रूप में ही अधिक चित्रित किया जा रहा था। जो विद्रोह भी करती है तो क्षण भर के लिए भावना या विरोध के कारण अंततः समर्पण ही करती आई है। नए लेखक, नयी कहानियां, नए विषय, नए कलाकार अब साहित्य और सिनेमा का हिस्सा बनने के बाद स्त्री रूप में बड़े बदलाव दिखाई पड़ते हैं। 21 वीं सदी की स्त्री निडर भाव, निर्णयन–क्षमता, अधिकारों की मांग, विद्रोही–चरित्र, हिंसा के खिलाफ आवाज उठाना उसने प्रारंभ कर दिया था।

"21वीं सदी के आरंभिक दशकों में नायिकाओं ने अंग प्रदर्शन, भाव–भंगिमाओं, स्त्री–पुरुष के प्रणय–संबंधों का प्रदर्शन, अश्लील गीत तथा नृत्य का

[40] सिनेमा में नारी, शमीम खान, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 99

भरपूर प्रयोग किया जाने लगा है। 'माया मेमसाहब', 'जिस्म', 'मर्डर', 'लव', 'सेक्स और धोखा', आदि इसी प्रवृत्ति की फिल्में है। इस दौर में सेक्स तथा देह प्रदर्शन की एक होड़ सी लगी है। मल्लिका शेरावत, मलाइका, समीरा रेड्डी, कोइना मित्रा के सामने 'तू चीज बड़ी है मस्त–मस्त' बेहद सीधे–सीधे गीत नजर आते आते हैं। आज हीरोइन आइटम नंबर मसाला फिल्मों में रोल करती नजर आ रही है। फिल्मों में नायिका की नंगी–जांघें, खुली पीठ, नाभि के नीचे की खिसकती हुई साड़ी या जींस पैंट। 'चोली के पीछे क्या है' गाती हुई माधुरी दीक्षित जैसी नायिकाओं की भीड़ स्त्री को काम–वस्तु में परिणत कर चुकी है।"[41] सिनेमा, अखबारों, टीवी चौनलों में स्त्री की अर्धनंगी देह तथाकल्पित सभ्य समाज को स्वीकृत है। **'सेंसर बोर्ड'** ने भी इस मामले में चुप्पी साध ली है। महाभारत में गांधारी का आंखों पर पट्टी बांध लेना उसका विरोध है तो **'द डर्टी पिक्चर'** की नायिका का शरीर प्रदर्शन भी उसका विरोध ही है। संजय लीला भंसाली की पारो भी अपने पति से कहती है कि जैसे वह प्रथम पत्नी की स्मृति को हृदय में संजोए बैठा है तो उसे भी प्रथम प्रेम देवा की स्मृति को सजाएं रखने का अधिकार है।

भारतीय सिनेमा में स्त्री आजाद हो रही है और अपने निर्णय खुद ले रही है। 21वीं सदी में 'क्या कहना', 'चांदनी बार', 'पा' जैसी फिल्मों ने भारतीय समाज की पोल खोलकर रख दी है। 'क्या कहना' में गर्भधारण करने का निर्णय नायिका का स्वयं का है। वहीं 'पा' की नायिका अपनी गलती के लिए किसी को पर दोष नहीं मढ़ती और बच्चे को जन्म देकर पालती है। फिल्म 'सलाम नमस्ते' में लिव इन रिलेशनशिप के मुद्दे को उठाया है। जिसमें नारी पुरुष की भांति स्वतंत्र रहना चाहती है। आज की नारी पात्र ऑफिस व घर–बाहर बराबर काम कर रही है।

हिंदी फिल्मों में भारतीय स्त्रियों की परंपरागत छवि को ध्वस्त करते हुए एक नया रूप गढ़ा है। इस नए रूप में कई बार विचलन भी देखने को मिलता है लेकिन वो ज्यादातर यथार्थ के करीब ही होता हैं। **2000 में आई 'अस्तित्व'** फिल्म के निर्देशक महेश मांजरेकर थे। 'अस्तित्व' एक ऐसी ग्रहणी की कहानी है जो पूरी तरह

[41] सिनेमा और सामाजिक सरोकार, संपादक डॉ दयानंद गौतम, डॉ कामना महेंद्रु, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद,प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 181

अपने पति के प्रति समर्पित है। उसका पति श्रीकांत पंडित बिजनेस के सिलसिले में अक्सर शहर के बाहर रहता है। पति की नजदीकी और प्यार को तरसती अदिति अपने शास्त्रीय संगीत के शौक को पूरा करने के लिए युवा संगीत शिक्षक मल्हार कामत से संगीत सीखना शुरू करती है। मल्हार उसकी बेचौनी और अकेलेपन को महसूस करता है। ऐसे ही एक नाजुक क्षण में दोनों के बीच शारीरिक संबंध स्थापित हो जाते हैं। अदिति मल्हार के बेटे की मां बन जाती है। जब बेटा जवान हो जाता है, तो उसके पति को यह बात पता चल जाती है। यह पुत्र उसका नहीं है। अपने पति और बेटे के द्वारा ठुकराए जाने पर अदिति आत्महत्या नहीं करती बल्कि अपने अस्तित्व की तलाश में निकल पड़ती है। हमारे समाज में औरतों की शारीरिक जरूरतों पर चर्चा करने का रिवाज नहीं है। लेकिन अस्तित्व फिल्म में नारी की शारीरिक जरूरतों को निर्देशक महेश मांजरेकर ने बड़ी कलात्मक ढंग से पेश किया है।

समाज में कई बार ऐसी घटनाएं घटती हैं जो संवेदनशील लोगों को अंदर तक झकझोर देती है। ऐसी कुछ घटनाओं ने समय–समय पर हमारे फिल्मकारों को समाज के कटु यथार्थ को परदे पर प्रस्तुत करने के लिए प्रेरित किया है। हिंदी सिनेमा समाज में स्त्री जाति पर होने वाले अत्याचारों का गवाह रहा है किंतु यदि स्त्री दलित जाति की हो तो उसका होने वाला शोषण स्तर बढ़ जाता है। "हिंदी सिनेमा में स्त्री को विभिन्न ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कभी वह आम औरत या युवा लड़की होती है, कभी मजबूर जागृत और कैरियर के प्रति समर्पित होती है, कभी परिवार का सहारा बन जाती है तो कभी मुक्त सोच वाली दिखाई देती है, कभी त्याग व समर्पण की मूर्ति भी दिखाई देती है, उन्हें खलनायक, तकदीर की मारी वेश्याओं के रूप में भी दिखाया जाता है। कुछ विद्वानों ने स्त्री को दमितों में भी दमित कहा है। दलित स्त्री के संघर्ष की कुछ ऐसे पहलू भी है जो अन्य वर्ण की स्त्रियों से बहुत कुछ अलग दिखाई देते हैं।"[42]

[42] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्र, कनिष्क पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, पृष्ठ संख्या 54

'बवंडर' एक ऐसी ही सच्ची घटना पर आधारित फिल्म है। यह जग मुद्रा के निर्देशन में 2000 में बनाई गई थी। राजस्थान सरकार की महिला विकास कार्यक्रम में भंवरी देवी साथी के तौर पर काम करती थी। बाल विवाह रोकने के लिए गैर सरकारी संगठन के संबंध में यह कार्यक्रम चलाया जा रहा था। 1992 में जो भंवरी देवी ने दूध पीती बच्ची का विवाह रोकने का प्रयास किया था। तो उसके (दलित महिला) साथ उच्च जाति के गुज्जर समुदाय ने सामूहिक बलात्कार करके उसे सजा दी। बलात्कार होने के 52 घंटे बाद उसकी मेडिकल जांच कराई जाती है। महिला थानेदार शालीनता की सीमाएं तोड़ देता है। भंवरी देवी को न्याय दिलाने के नाम पर कैसे हमारे राजनीतिज्ञ राजनीति चलते हैं। कई महिला संगठनों को भावरी देवी को न्याय दिलाने से ज्यादा रुचि वाहवाही लूटने में होती है। भरी अदालत में एक महिला का बलात्कार किया जाता है। दो बच्चों की मां भंवरी देवी के साथ सहने वाला उसका पति सोहन जो इस घटना का चश्मदीद गवाह भी है मुश्किल हालातों में साए की तरह खड़ा रहता है। यह फिल्म राजनीतिक और संवैधानिक व्यवस्था पर भी प्रहार करती है।

"साहित्य हो या सिनेमा स्त्री को हर जगह हाशिए पर रखी गयी है। स्त्री अधिकार पर होने वाली तमाम बहसों में दलित स्त्रियों के स्वर ज्यादातर गायब ही रहे हैं। उनका क्या जीवन है? वह कैसे अपने आप को बचाए रखने के लिए दिन–रात संघर्षरत हैं। यह कभी चर्चा का मुद्दा नहीं रहा है। आज के विभिन्न पहलुओं से हमारा साक्षात्कार करने का माध्यम गीत, नृत्य–कला, साहित्य और सिनेमा आदि रहा है। दलित स्त्री को अगर हिंदी सिनेमा के परदे पर ढूंढा जाए तो वह कहीं नहीं मिलेगी। अगर मिलेगी भी तो मुख्य अंगल के बाहर। कुछ फिल्में जरूर आई हैं, जिनमें दलित स्त्री का स्वर मुखर हुआ है। लेकिन उन फिल्मों को भी राजनीतिक, सांस्कृतिक और कलात्मक धरातल पर परखे जाने की जरूरत है। हिंदी सिनेमा को दलित स्त्री के नजरिए से देखे जाने की जरूरत है।"[43]

[43] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्र, कनिष्क पब्लिकेशन हाउस, प्रथम संस्करण 2019,पृष्ठ संख्या 55

राजकुमार संतोषी के निर्देशन में **सन् 2001** में बनी **'लज्जा'** फिल्म पुरुष प्रधान समाज की शिकार चार अलग–अलग महिलाओं के हालातों की कहानी है। रामायण की सीता के कठिन जीवन संघर्ष व अग्नि परीक्षा पर प्रश्न उठाती यह फिल्म सीता के चरित्र को लेकर बनी धारणा को तोड़ने का कार्य करती है। प्रत्येक पुरुष को सीता जैसी पत्नि इसलिए चाहिए क्योंकि वह सहनशील होंगी। परंतु अब यह संभव न था। **'लज्जा'** फिल्म में जानकी नौटंकी में सीता के अभिनय के दौरान दर्शकों के समक्ष कुछ प्रश्न उठाती है, वह कहती है, "रावण मुझे उठा कर ले गया था उसमें मेरा क्या दोष? हम दोनों पति–पत्नी एक दूसरे से अलग रहे हैं मैं अकेली अग्नि परीक्षा क्यों दूं? हम दोनों देंगे, सदियों से औरत ही सती होती आई है। क्या कोई मर्द होता है अपनी औरत के लिए सती?"[44] यह विरोध उसका अपने अधिकारों व एक समान भाव न मिलने के कारण है। वह प्रत्येक स्तर पर पुरुष से बराबरी की मांग करती है।

"**सन् 2001** में श्याम बेनेगल के निर्देशन में बनी फिल्म **'हरी भरी'** स्त्री दृष्टि से एक और महत्वपूर्ण फिल्म है। यह फिल्म स्त्री के अधिकारों के पक्ष में खड़ी होती है। आज हमारे आजादी के 69 साल के बाद भी देश की औरतों को गर्भधारण और प्रजनन संबंधी मुद्दों पर फैसला लेने का अधिकार नहीं है। **'हरी भरी'** औरतों की इसी समस्या को उठाती है। इस फिल्म में स्त्री व्यक्तित्व के अलग–अलग आईनों को दिखाने की कोशिश की गई है फिल्म में तीन नारी पात्र शबाना आजमी, नंदिता दास और राजेश्वरी सचदेव के माध्यम से इसे प्रस्तुत किया गया है।"[45]

सन् 2002 में मधुर भंडारकर के निर्देशन में **'चांदनी बार'** फिल्म बनी थी। फिल्म शुरू होती है 1985 के मेरठ दंगों में अपने मां–बाप को जिंदा सुलगते देख मुमताज बेघर लावारिस हो जाती है। मुमताज को इरफान मामू मुंबई लेकर आते हैं। उसे यहां बार में डांसर बनने पर मजबूर करते हैं। शर्मीली मुमताज को मर्दों को फसाने के गुर सिखाए जाते हैं। ताकि वह ज्यादा से ज्यादा कमाई कर सके। इरफान मामू उसकी कमाई पर ऐश करते हैं लेकिन मामू को अब अपनी भांजी की

[44] लज्जा फिल्म, 2001, निर्देशक राजकुमार संतोषी, दृश्य माध्यम, 20/10/2019
[45] भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्र, कनिष्क पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 2019,पृष्ठ संख्या 42

कमाई ही नहीं उसका जिस्म भी चाहिए। एक रात मामू उसके साथ बलात्कार कर देता है मुमताज की बेबसी इतनी है कि वह न तो इरफान मामू को छोड़ पाती है न चांदनी बार को। इस फिल्म के कई दृश्यों में इतनी स्वभाविकता है कि वह हमें चांदनी बार में बैठे होने का एहसास कराती हैं।

फिल्म 'जिस्म' सन् 2003 में अमित सक्सेना के निर्देशन में बनी थी। यह एक थ्रिलर है जिसमें प्यार, धोखा और सेक्स जैसे सारे मसाले मौजूद है। एक धूर्त महिला सोनिया अपने पति की जायदाद हड़पने के लिए हैंडसम युवा वकील कबीर को अपना शिकार बनाती है। उससे शारीरिक संबंध स्थापित करती है। अपनी अदाओं और अंदाज से उसे उस स्तर तक ले जाती है कि वह उन दोनों के बीच उसके पति को बर्दाश्त नहीं कर सके। कबीर की इसी कमजोरी का फायदा उठाकर उससे अपने पति की हत्या करवा देती है। इस फिल्म की नायिका ने नायिकाओं के लिए खींची गई सारी लक्ष्मण रेखाएं एक साथ पार कर ली थी। फिल्मों के 90 वर्षों के इतिहास में नायिका को कभी ऐसा नहीं दिखाया गया था। जैसे जिस्म की सोनिया को।

"21वीं सदी के प्रारंभ से ही राजनीति जगह से संबंधित कुछ ऐसी फिल्में आई जिसमें स्त्री ने केवल राजनीति के बीच अपना स्थान बना लेती है बल्कि वह राजनीतिक दांवपेचओ में भी पारंगत है और अपने राजनीतिक प्रभुत्व को समझती भी है राजनीति को लेकर सकारात्मक और नकारात्मक भूमिका जो अभी तक पुरुष वर्ग का वर्चस्व क्षेत्र माना जाता था उसे भी स्त्री ने चुनौती देते हुए दोनों ही प्रकार की भूमिकाओं को अपने अभिनय के दम पर सफलतापूर्वक निभाया है सत्ता गुलाल राजनीति आरक्षण रांझणा गुलाब गैंग रिवॉलवर रानी आदि कुछ ऐसी ही फिल्में है।"[46] **सन् 2003** में मधुर भंडारकर के निर्देशन में बनी **'सत्ता'** फिल्म महिला राजनीतिक को केंद्र में रखकर बनाई गई थी। 'सत्ता' फिल्म की नायिका अनुराधा है अनुराधा तलाकशुदा मां की आधुनिक बेटी है। जो मुंबई में रहकर नौकरी करती है। एक प्रसिद्ध राजनेता के बेटे विवेक से प्रेम विवाह करने पर वह राजनीतिक परिवार की बहू बन जाती है। लेकिन जल्दी उसे एहसास हो जाता है कि इस परिवार में औरत

[46]भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्रा, कनिष्क पब्लिकेशन हाउस, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2019, पृष्ठ संख्या 30

की कोई महत्त्व नहीं है। अनुराधा जो अपने पति से जेल में मिलने जाती है तो वह उसे उसकी हैसियत बताते हुए कहता है, "चौहान खानदान के बगैर तुम्हारी औकात क्या है?"[47] अनुराधा एक ऐसी औरत है जो पति को मारती है। ससुर के काले कारनामों का पर्दाफाश करती है। पराए मर्द के साथ खुलेआम रहती है। उसके साथ शारीरिक संबंधों के बावजूद लजाती नहीं है। बल्कि अपनी खुशी के लिए उठाया एक कदम मानती है। ऐसी आधुनिक नारी की कल्पना **'सत्ता'** फिल्म के माध्यम से की गई है।

मशहूर कवयित्री और लेखिका अमृता प्रीतम के उपन्यास पर आधारित **फिल्म 'पिंजर' 2003** में चंद्रप्रकाश द्विवेदी के निर्देशन में बनाई गई थी। फिल्म की मुख्य पात्र पूरो है। फिल्म की शुरुआत में पूरो की शादी की तैयारी चल रही होती है कि एक मुसलमान रसीद पूरो का अपहरण कर खुशियों को मातम में बदल देता है। हिंदू साहू और मुसलमान की खानदानों में पुरानी दुश्मनी है। दुश्मनी के इस खेल में दोनों खानदानों के मर्द औरत की आबरू और जिंदगी से खेल कर अपनी मर्दानगी साबित करते हैं। "पूरो के पिता रसीद के परिवार के पास अपनी बेटी को लौटाने के लिए जाते हैं पूरो के पिता कहते हैं, मेरी बेटी लौटा दो मैं तुम्हारा थूका जाटने को तैयार हूं। रसीद के ताऊ कहते हैं, आप चाहे तो थाने में रपट लिखवा दें हमारे घर में और भी जवान लड़के हैं तुम्हारा भला इसी में है कि खामोश रहो। चाहो तो ढिंढोरा हम पीट देंगे। पिता अपमानित होकर घर लौट आते हैं और कहते हैं, आज से पूरो हमारे लिए मर गई।"[48]

"मनीषा झा की फीचर फिल्म **'मातृभूमिः स्त्री विहीन सृष्टि का दुःस्वप्न' (2003)** प्रथम दृष्टया तो यह फिल्म भ्रूण में शिशु बालिकाओं एवं नवजात बालिकाओं की हत्या और घटते लिंगानुपात को संबोधित करती है। फिर दलित समुदाय की

[47] सत्ता फिल्म, 2003, निर्देशक मधुर भंडारकर, दृश्य माध्यम, 21/04/2019
[48] पिंजर फिल्म, 2003, निर्देशक चंद्रप्रकाश द्विवेदी, दृश्य माध्यम, 20/08/2019

वर्गगत और जातिगत अवस्था को भी दर्शाती है। यह फिल्म आज के ग्रामीण भारत का सटीक चित्रांकन भी करती है।"[49]

तत्पश्चात् हिंदी सिनेमा में स्त्री की भूमिका पर नजर डालें तो **सन् 2008** में मधुर भंडारकर के निर्देशन में बनी फिल्म **'फैशन'** याद आती है। फैशन और ग्लैमर जगत जितना चमचमाता हुआ दिखता है यह सिर्फ सच्चाई का एक पहलू है। इस चमचमाहट के पीछे जो अंधियारा छिपा है वह इतना गहरा है कि किसी और को तो क्या, लोग खुद को नहीं पहचान पाते। फिल्म में सोनाली गुजराल कहती है, "यह जगह ही ऐसी है क्या कब क्या बदल जाए कुछ नहीं पता चलता?" फिल्म में मेघना माथुर एक छोटे शहर की मध्यमवर्गीय लड़की मशहूर सुपरमॉडल बनने के सपने को पूरा करने के लिए अति महत्वाकांक्षा की शिकार हो जाती है। जिसका परिणाम बड़ा दुखद होता है। मेघना जैसी बहुत सी लड़कियां जब उस चका–चौंध से टकराती हैं तो पता चलता है सपने और यथार्थ में कितना व्यापक अंतर है।

सिनेमा जगत की संवेदनहीनता, पूंजीवादी नीति, प्रतिस्पर्धा, महत्त्वाकांक्षा की होड़ में मनुष्य का मशीनीकरण होता जा रहा है। जहां पर अभिनेत्री को मात्र वस्तु रूप में जिस तरह चाहे सजाएं दिखाएं उसकी अपनी बुद्धिमत्ता को शून्य आँका जाता है। फिल्म फैशन में डिजाइनर का यह कथन 'डार्लिंग यू आर मॉडल अकल इस्तेमाल करने की कोई जरूरत नहीं है' पुरुषवादी सोच को दर्शाता है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि 21वीं सदी का प्रथम दशक विभिन्न विमर्शों के उदय का समय था। यह समय परंपराओं से आगे बढ़कर आधुनिकता की ओर एक कदम था। भारतीय संस्कृति व सभ्यता की बात करें तो हमारे यहां कलाओं का बड़ा महत्व रहा है परंतु उसमें स्त्री भागीदारी की कमी पहले से ही रही है लेकिन पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव ने जो बहुत पहले से ही **'पारसी थिएटर'** के माध्यम से हिंदी सिनेमा में विद्यमान था। स्त्री और उसके नजरिए में बड़ा बदलाव किया है। अपनी जड़ों से कटाव और आधुनिकता के नाम पर पुरुषों की बराबरी जैसे शब्दों का सहारा लेकर आज की स्थिति नग्नता और अश्लीलता का पर्याय होती जा रही है।

[49] भारतीय हिंदी सिनेमा की विकास यात्रा एक मूल्यांकन, संपादक डॉ देवेंद्र नाथ सिंह, डॉ वीरेंद्र सिंह यादव, पैसिफिक पब्लिकेशन, प्रथम संस्करण 2012, पृष्ठ संख्या 317

3.2. 21वीं सदी के दूसरे दशक की स्त्री चरित्र प्रधान फिल्में

वैश्वीकरण के चलते मुक्त बाजार व्यवस्था ने सिनेमा उद्योग को ऐसी फिल्में बनाने पर जोर दिया है। जो नायिका के परंपरागत छवि को तोड़ती हो। भौतिकवादी आधुनिकता ने महिलाओं को समाज में सशक्त रूप से प्रस्तुत किया है। समाज से प्रेरित होकर सिनेमा भी स्त्रियों की समस्याओं के साथ–साथ उनके मजबूत किरदारों को प्रस्तुत कर रहा है। 21वीं सदी का दूसरा दशक इस बात का प्रमाण है। 2011 से लेकर 2020 तक हिंदी सिनेमा ने जिस प्रकार के नए मुद्दों को उठाया है उनमें स्त्री छवि को बदल कर रख दिया है।

'द डर्टी पिक्चर' 2011 में बनी सिल्क स्मिता की जीवनी पर आधारित हिन्दी फिल्म है। फिल्म का निर्देशन मिलन लुथ्रिया ने किया है। इसकी सह–निर्माता शोभा कपूर और एकता कपूर है। विद्या बालन, नसीरुद्दीन शाह और इमरान हाशमी ने फिल्म में मुख्य किरदारों की भूमिका निभाई है। फिल्म 80 के दशक की कहानी है। जो रेशमा (विद्या बालन) के आसपास घूमती है। रेशमा का सपना है एक मशहूर अभिनेत्री बनना है। शुरुआत में उसे थोड़ी परेशानी होती है। वह जल्द ही पर्दे पर **'सिल्क'** बन कर धूम मचाने लगती है। उसकी नग्नता भारतीय सामाजिक नारी के सारे मापदंड तोड़ देती है। एक समय ऐसा आता है कि समाज का उसकी अश्लीलता मन भर जाता है और अंत में वह आत्महत्या कर लेती है। फिल्म का यह दुखांन्त अंत इस बात का संकेत देता है कि अतिमहत्वाक्षां जीवन को अंत की ओर ले जाती है।

विशाल भारद्वाज की फिल्म **'सात खून माफ' (2011)** रस्किन बांड द्वारा लिखी कहानी **'सुजैन्स सेवन हस्बैंड्स'** पर आधारित थी। इस फिल्म में सुजैन (प्रियंका चोपड़ा) सात शादियां करती हैं और अपने आधा दर्जन पतियों को मौत के घाट उतार देती है। कहानी का चयन बहुत ही उम्दा था, क्योंकि प्यार, नफरत, सेक्स, लालच जैसे जीवन के कई रंग इसमें नजर आए। सूजैन का प्रेम के प्रति असंतुष्टि उसे गुनहगार बना देती है। सात विवाह करने के बाद भी उसे प्रेम और संतुष्टि नहीं

मिलती। यह भारतीय समाज के पारिवारिक संबंधों व उनके बीच का खोखलापन भी दिखाती है।

'कहानी' (2012) सुजॉय घोष द्वारा निर्देशित फिल्म की हीरोइन विद्या बालन के इर्दगिर्द घूमती है। जो कि प्रेग्नेंट होती है। विद्या लंदन से कोलकाता अपने पति अर्णब बागची को ढूंढने के लिए आती है। जो दो महीनों से लापता होता है। वह पुलिस स्टेशन जाती है। उस ऑफिस में जाती है जहां अर्णब अपने प्रोजेक्ट के लिए आया था। उस होटल में जाती हैं जहां वह रूका हुआ था, लेकिन उसका कुछ पता नहीं चलता। गर्भवती महिला का यह संघर्ष उसकी मनोदशा और पति के प्रति प्रेम को प्रकट करता है।

सन् 2012 में गौरी शिंदे द्वारा निर्देशित **'इंग्लिश–विंगलिश'** अपने अंग्रेजी के अल्पज्ञान के कारण हीन भावना से ग्रस्त नायिका की कहानी है। परिवार का प्रत्येक सदस्य यहां तक कि उसके बच्चे भी उसे समय–समय पर यह अहसास करवाते हैं कि वह अंग्रेजी नहीं जानती है। जिसके कारण सब जगह उसका मजाक बनाया जाएगा। पति को भी लगता है कि एक पत्नी के रूप में उसकी सबसे बड़ी उपलब्धि यह है कि वह लड्डू अच्छे बनाती है। असली समस्या यहां भाषा का ने जानना तो है ही अपितु साथ ही उसके अस्तित्व की भी है। अंग्रेजी भाषा की कोचिंग के जरिए वह अंग्रेजी सीख जाती है। उसके चरित्र की विशेषता उसके अंग्रेजी भाषा का ज्ञान नहीं है। वह एक मां, एक पत्नी के रूप में अंग्रेजी न जानते हुए भी परिवार का गर्व साबित होती।

21वीं सदी में हम **'क्वीन'** को इस सफलता का प्रस्थान बिंदु मान सकते हैं। 2014 में रिलीज हुई इस फिल्म **'क्वीन'** में कंगना राणावत ने अपने अभिनय के बल पर शानदार सफलता हासिल की थी। 'क्वीन' के निर्माण पर करीब 13 करोड़ रुपए खर्च हुए थे और फिल्म ने सौ करोड़ से ज्यादा का बिजनेस किया था। इस तरह से देखें तो इस फिल्म ने अपनी लागत के करीब नौ गुना ज्यादा रकम का बिजनेस किया। श्रीदेवी की फिल्म **'मॉम'** भी सफल रही थी।

2014 में अभिषेक चौबे के निर्देशन में बनी फिल्म **'डेढ़ इश्किया'** तीन महिलाओं की कहानी है। माधुरी और हुमा कुरैशी ने पर्दे पर जिस चरित्र को जिया है यह साधारण स्त्री की कहानी नहीं है पर उनकी इच्छाओं से परे भी नहीं है। माधुरी दीक्षित और हुमा कुरैशी ने पूरी फिल्म में उन्मुक्त होती स्त्री के जीवन के तमाम पहलुओं बहुत ही बखूबी से चित्रित किया है। विवाह–निकाह के लिए अभी तक स्त्री को ही पुरुष की मानसिकता पर खरा उतरने की पाबंदी थी पर यहाँ मामला उल्टा है। यहाँ माधुरी दीक्षित ने एक ऐसी स्त्री की भूमिका को जीवंत किया है। जो अपने जीवन के अकेलेपन को तोड़ने के किसी मर्द के कंधों का सहारा आसानी से नहीं ले लेती बल्कि बाकायदा स्वयंवर रचाती है। जिसमें सैकड़ों छोटे–बड़े हैसियत के मर्द शामिल होते हैं। इन मर्दों का एक स्त्री को पाने मात्र के लिए अपने आप को एक दूसरे से बेहतर दिखाने के संघर्ष करते देख सुखद अनुभूति होती।

सौमिक सेन के निर्देशन में बनी फिल्म **'गुलाब गैंग' (2014)** विवादित और कमर्शियल फिल्म की तरह याद की जा सकती है। 'गुलाब गैंग' के बारे में सभी को पता है कि वह सच्ची घटना पर आधारित फिल्म है इसलिए उसके प्रदर्शन के साथ ही उसकी मूल घटना से हूबहू जोड़कर देखना लाजिमी है। सिर्फ फिल्म के लिहाज से देखें तो यह याद नहीं आता कि पिछली किस फिल्म में एक झुंड में, एक रंग में लिपटी खड़ी 8–10 औरतों को एक साथ 12–15 गुंडों को पीटते दिखाया गया हो। फिल्म में रज्जो का एक समूह है जो दलितों के उत्थान और अन्याय के खिलाफ आवाज उठाने का काम करता है। जब एक भ्रष्ट राजनीतिज्ञ स्थानीय चुनावों में भाग लेती है, तो रज्जो उसका मुकाबला करने का फैसला करती है।

सन् 2014 में साईं कबीर के निर्देशन में बनी फिल्म **'रिवाल्वर रानी'** कंगना राणावत की एक कमजोर फिल्म ही सही पर स्त्री–स्वर से भरी हुई है। हिंदी फिल्मों मे टपोरी गुंडे की भूमिका आज तक नायक ही करते आए हैं, पर सिनेमा बदल रहा है। अभिनय की परिपाटी बदल रही है। कंगना ने **'रिवाल्वर रानी'** में जिस भूमिका को जिया है उसका उद्देश्य मात्र व्यवसायिकता का चरम है। परंतु कंगना ने हाथ में पिस्तौल और आँखों में अपने सामने बच्चे दिखते नायक से प्यार का इजहार करती है। यह उन लड़कियों की कहानी है जो मजबूरी में हथियार उठाती तो हैं पर प्यार

मिलते ही पिघल जाती है। पूर्ण रूप से व्यावसायिक पर स्त्री जीवन के छूट गए पक्ष को देखाने की कोशिश की गई है। प्रदीप सरकार की फिल्म 'मरदानी' को 'रिवाल्वर रानी' के अगली कड़ी के रूप मे याद किया जा सकता है यहाँ भी नायिका के हाथ में पिस्तौल है, पर कानूनी है। इस रिवाल्वर से होने वाले कत्ल गैर–कानूनी नहीं होंगे क्योंकि उसके पास लाइसेंस है। दोनों ही नायिकाओं का मुख्य स्वर गुनाह खत्म करना है पर तरीका अलग है। एक कानूनी ढंग से तो दूसरी कानून को हाथ में लेकर। जो कानून को हाथ में लेकर काम करती है। उसका भरोसा कानून से उठ चुका है क्योंकि उसका मानना है कानून सही होता तो वह बंदूक ही क्यूँ उठाती। दूसरी कानून को मानने पर बाध्य है क्योंकि वह उसकी नौकरी करती है और उसमें विश्वास भी है। रानी मुखर्जी प्रतिभावान अभिनेत्री हैं पर फिल्मों में उनकी क्षमता का सही मूल्यांकन नहीं हो सका। यह हिंदी सिनेमा है जहाँ स्त्रियाँ जल्द ही रिटायर्ड हो जाती है।

ऐसा नहीं है कि इस दौर में सभी नायिका प्रधान फिल्म सुपरहिट ही रहीं। विद्या बालन की फिल्म **'बेगम जान'** जिसे मशहूर निर्देशक श्रीजीत मुखर्जी ने निर्देशित किया था वो ज्यादा बिजनेस नहीं कर पाई। उपलब्ध आंकड़ों के मुताबिक करीब बीस करोड़ में बनी ये फिल्म तीस करोड़ का ही बिजनेस कर पाई। हलांकि विद्या की ही एक और फिल्म **'तुम्हारी सुलु'** ने औसत बिजनेस किया। बीस करोड़ की लागत से बनी फिल्म ने बॉक्स ऑफिस पर 50 करोड़ का कारोबार किया।

हाल ही में कई फिल्में इस तरह की आईं है। जिसमें नायिकाओं ने अपने बूते पर फिल्म को हिट करवाया। आलिया भट्ट ने अपने अभिनय के बूते पर फिल्म **'राजी' (2018)** को 100 करोड़ के क्लब में शामिल करवा दिया। इस फिल्म में कोई स्टार नायक नहीं है, बावजूद इसके ये फिल्म सुपर हिट रही। इससे तो एक और दिलचस्प बात जुड़ी है कि इस फिल्म का निर्देशन भी एक महिला (मेघना गुलजार) ने किया।

'राजी' रिलीज के चंद दिनों बाद एक और फिल्म आई। **'वीरे द वेडिंग'** इस फिल्म ने भी दो हफ्ते में करीब साठ करोड़ का बिजनेस किया है, जिसको बेहतर प्रदर्शन माना जा सकता है। इसमें भी कोई स्टार नहीं है बल्कि चार नायिकाएं

करीना कपूर खान, सोनम कपूर आहूजा, शिखा और स्वरा भास्कर है। हालांकि इस फिल्म में सफल होने के लिए तमाम तरह का मसाला डाला गया। फिल्म में महिलाओं की बातचीत में गालियों की भरमार है। यौनिकता का प्रदर्शन है। स्वछंदता की वकालत की गई है और इसको फेमिनिस्ट फिल्म कहकर प्रचारित भी किया गया। फेमिनिज्म की आड़ में सेक्सुअलिटी से लेकर गाली–गलौच को आधुनिक महिलाओं की जीवन शैली का हिस्सा बताकर पेश किया गया है।

दरअसल कुछ फिल्मकारों को लगता है कि गाली–गलौच करके, फ्री सेक्स की वकालत करके ही महिलाएं स्वतंत्र हो सकती हैं। फिल्म 'वीरे द वेडिंग' के कर्ताधर्ता इसी दोष के शिकार हो गए। ऐसे फिल्मकारों को स्त्री स्वतंत्रता और स्वछंदता का भेद समझना होगा। फिल्म अच्छी कमाई करने की राह पर अग्रसर दिखाई देती है।इसी तरह की एक फिल्म आई थी 'हिचकी'। ये फिल्म भी रानी मुखर्जी ने अपने बूते पर सफल करवाई। **'हिचकी'** फिल्म की नायिका **'टूरेट सिंड्रोम'** से पीड़ित होती है। जिसके बारे में कम लोगों को पता था। ये एक न्यूरोसाइकेट्रिक समस्या है जो किसी को भी बचपन से ही हो सकती है। इस फिल्म को भी पर्याप्त सफलता मिली। इसके पहले 'मॉम' फिल्म भी सफल रही। ऐसा नहीं है कि नायिका प्रधान फिल्में पहले हिट नहीं होती रही हैं।

नायिका प्रधान फिल्मों के हिट होने का एक लंबा इतिहास है। फिल्म **'मदर इंडिया'** से लेकर फिल्म 'लज्जा' तक और फिर फिल्म **'कहानी'** से से लकर 'क्वीन' तक। हर दौर में महिला प्रधान फिल्में बनती रही हैं, लेकिन हाल के दिनों में महिला प्रधान फिल्मों के सफल होने की संख्या बढ़ी है।

निष्कर्षतः यह कह सकते हैं कि भारतीय सिने का सफर स्टील फोटोग्राफी से शुरू होकर अवाक, सावक, ब्लैक एंड वाइट, स्टंट मैन, कलर जैसे विभिन्न उपादानों से होता हुआ आज डिजिटल युग तक आ पहुंचा है हिंदी सिनेमा की इस यात्रा की परख यदि स्त्री सापेक्ष नजरिए से करें तो हम पाएंगे सिनेमा में स्त्री प्रतिनिधित्व का सवाल कई चरणों से होकर गुजरा है। सामाजिक मूल्यों में परिवर्तन के साथ–साथ

स्त्री–चरित्रों के प्रति दृष्टिकोण में भी बदलाव आया है। यह बदलाव अचानक से न आकर आहिस्ता–आहिस्ता काल सापेक्ष रूप में सामने आया है।

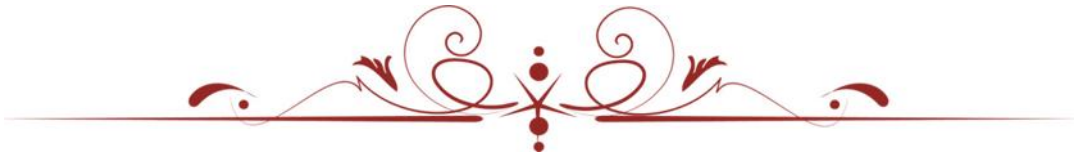

चतुर्थ अध्याय

स्त्री–चरित्र प्रधान फिल्मों का समीक्षात्मक अध्ययन

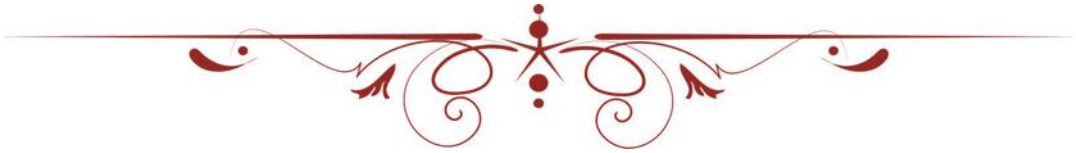

चतुर्थ अध्याय

स्त्री–चरित्र प्रधान फिल्मों का समीक्षात्मक अध्ययन

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारतीय जनमानस पर यदि किसी कला का सर्वाधिक प्रभाव परिलक्षित होता है तो वह है सिनेमा। सिनेमा मनोरंजन के साथ विभिन्न कलाओं का समुच्चय भी है। कला मनुष्य की संगिनी है। कला में ही मनुष्य अपने अनुभव और संवेदना को विभिन्न स्तरों पर प्रदर्शित करता है। हिन्दी सिनेजगत मानव–विकास–यात्रा का एक सशक्त दस्तावेज है। नारी की समानता, विकास एवं शांति का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। शांति और स्थायित्व के बिना विकास और समानता की बातें बेमानी हैं। किसी भी विकसित समाज की पहचान उस समाज–व्यवस्था में व्याप्त स्वतन्त्रता, समानता और बन्धुत्व से होती है। महिलाएं सामाजिक–पारिवारिक जीवन की धुरी हैं तब यह आवश्यक हो जाता है कि महिलाओं को आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक जीवन में सही और समुचित भागीदारी मिले। इस महत्तर उद्देश्य की पूर्ति के लिए ऐसे तन्त्र का विकास किया जाए जहाँ स्त्री–शोषण या किसी भी प्रकार के उत्पीड़न का पूर्णतया निषेध हो, जिसमें यह समाज फल–फूल सके। इसके लिए स्त्रियों का शिक्षित व जागरूक होना भी उतना ही महत्वपूर्ण है।

मानवीय संवेदनाओं और आंतरिक मानसिक प्रक्रियाओं को व्यक्त करने के श्रेष्ठ माध्यम 'सिनेमा' में भूमंडलीकरण के पूर्व तक स्त्री, दलित, किन्नर, आदिवासी आदि हाशिए पर पड़े समाज को केवल पात्र बनाकर पेश किया जाता था। फिल्मों में उनके अंदर के प्रतिरोध को व्यापक रूप में नहीं दिखाया जाता था लेकिन 21 वीं सदी के हिंदी सिनेमा ने अस्मितामूलक विमर्श को मुख्यधारा से जोड़ने का सराहनीय प्रयास किया है। हिंदी सिनेमा में इन विमर्शमूलक विषयों ने समाज को अंदर तक प्रभावित कर यह संदेश दिया है कि सिनेमा सिर्फ मनोरंजन मात्र नहीं बल्कि उसकी सामाजिक जिम्मेदारी भी हैं। सामाजिक आंदोलनों ने भी इनके जीवन–संघर्ष को प्रमुखता दी है। भूख, अशिक्षा तथा विभाजन की त्रासदी ने स्त्री को बहुत समय तक मुख्यधारा से काटकर रखा। वर्तमान परिवेश में संविधान द्वारा प्रदत्त संवैधानिक अधिकार, जागरूकता, आर्थिक निर्भरता, शिक्षा, साहसी व्यक्तित्व, निर्णय क्षमता आदि

के माध्यम से हाशिये के समाज को मुख्यधारा में शामिल होने का मौका मिला। पहले की फिल्में स्त्री जीवन की मुश्किलों और विडंबनाओं को व्यक्त करती हुए उनके साथ बराबरी और मानवीय व्यवहार करने पर बल देती थीं। जबकि इसके बाद जो फिल्में बनीं उनमें स्त्री सशक्तीकरण व स्वतंत्र अस्तित्व को नई पहचान दी गई।

स्त्री को अतीत से वर्तमान तक अपने अस्तित्व, भविष्य और अधिकारों के लिए संघर्ष करना पड़ा है। यह केवल निम्न वर्ग तक सीमित नहीं बल्कि इसका विस्तार उच्च वर्ग तक है। सच कहें तो स्त्री की कोई जाति नहीं वह तो पिता, पति, पुत्र आदि के नाम से अपनी सामुदायिक सामाजिक पहचान विकसित करती आयी है। परन्तु वर्तमान में यह भी देखना होगा कि उसके जीवन में कितने बदलाव और विकास हुए हैं और कितने अभी बाकी हैं? शोध के माध्यम से इसकी पुष्टि ही इस शोध–विषय का मुख्य उद्देश्य है। स्त्री–चरित्र प्रधान फिल्मों की समीक्षा के माध्यम से हम स्त्री–जीवन के विविध आयामों का विश्लेषणात्मक व समीक्षात्मक अध्ययन करते हुए इसका पर्यवेक्षण तीन आधारों पर करेंगे–

4.1.प्रथम भाग– यौन–हिंसा और उत्पीड़न

4.2.द्वितीय भाग– महिला सशक्तीकरण

4.3.तृतीय भाग– समसामयिक मुद्दे

4.1. यौन–हिंसा व उत्पीड़न संबन्धी फिल्में

आज भले ही हम 21वीं सदी में आ गए हों लेकिन अतीत और वर्तमान को दृष्टिगत रखते हुए स्त्री–जीवन का तुलनात्मक अध्ययन करें तो पता चलता है कि कुछ स्त्रियों के जीवन में ही बदलाव आया है, बाकी मजबूर, अशिक्षित, उपेक्षित और शोषित औरतें आज भी अपने अस्तित्व और अस्मिता की तलाश कर रही हैं।

स्त्री का सम्मान घर से शुरू होता है किंतु यह सौभाग्य बहुत कम स्त्रियों को ही मिल पाता है। पुरुष प्रधान समाज होने के कारण उसे अनेक प्रकार की वर्जना, यौन–हिंसा, उत्पीड़न और शोषण का सामना करना पड़ता है। हमारा सामाजिक ढांचा ही ऐसा है कि सम्मानजनक एवं स्वतंत्र अस्तित्व के लिए स्त्रियाँ अतीत से आज तक

संघर्षरत हैं, परंतु एक विडंबना यह भी है कि वह पितृसत्तात्मक परंपराओं, विचारों, व्यवस्थाओं की आदी हो गई हैं। जिस दिन वह विरोध दर्ज कराती हैं उसी दिन आदर्श नारी से पदच्युत हो जाती हैं। बार–बार आहत होने पर भी खुद के होने का अहसास लिए अपने संघर्ष और प्रतिभा से जब इतिहास बनाती हैं, तब भी पुरुष उसकी कामयाबी में अपनी भूमिका तलाश लेता है। स्त्री संघर्षों की ये जटिलताएं पितृसत्तात्मक सोच एवं बाजारवाद की वजह से उभर नहीं पाती हैं। सिनेमा ने आधुनिक सामाजिक मूल्यों, आधुनिक वैचारिकी और कलात्मक सुरुचि के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी है, लेकिन आज बाजारवादी संस्कृति ने यथार्थ को काफी प्रभावित किया है जिससे मानवीय मूल्यों का ह्रास भी हुआ है। यौन–हिंसा, उत्पीड़न, बलात्कार, भ्रष्टाचार आदि को दिखाकर एक ऐसे भ्रष्ट समाज का निर्माण हो रहा है, जहाँ नैतिकता गूलर का फूल बनकर रह गई है। कभी–कभी तो फिल्म निर्माता यह कुतर्क प्रस्तुत करते हैं कि जनता आम तौर पर ऐसी ही फिल्म पसंद करती है इसलिये इनकी माँग अधिक है। लेकिन सुंदरता के नाम पर अश्लीलता परोसना भी फिल्म निर्माताओं के व्यावसायिक रूप का परिचायक है जिससे नैतिकताविहीन समाज का निर्माण होता है। उपर्युक्त आधार पर निम्नलिखित फिल्मों की समीक्षा इस प्रकार हैं–

लज्जा (2001)

21वीं सदी के प्रथम चरण (2001) में **'लज्जा'** राजकुमार संतोषी द्वारा निर्देशित एक महत्वपूर्ण फिल्म है। इसमें भारतीय मिथकीय आख्यान रामायण पर यथार्थपरक दृष्टि से विचार करते हुए उसकी वर्तमान प्रासंगिकता व आदर्श हिंदू महिला सीता के चरित्र को आधार बनाकर मुख्य चार महिलाओं वैदेही, मैथिली, जानकी, रामदुलारी की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया गया है। 202 मिनट की इस फिल्म में स्त्री के जीवन से जुड़े विभिन्न पहलुओं, आत्मसम्मान की मांग, दहेज का विरोध, भ्रूण–हत्या का विरोध, लैंगिक भेदभाव, कामकाजी जीवन की चुनौतियों, शिक्षा का प्रचार–प्रसार, ग्रामीण चेतना, भेदभाव जैसी समस्याओं को आधार बनाया गया है। फिल्म में अभिनय भी बहुत प्रभावी दिखाई पड़ता है। प्रत्येक पात्र कहानी में पूर्णतः डूबा हुआ नजर आता है। पूर्वार्द्ध व उत्तरार्द्ध दोनों में कथा व घटना का

संयोजन इस प्रकार है कि दर्शक आद्यंत फिल्म से बंधा रहता है। सामाजिक कुव्यवस्था पर व्यंग्य के स्वर दिखाई पड़ते हैं। रामायण को आदर्श जीवन का आधार मानकर सीता की अग्निपरीक्षा वर्तमान समय में बदलते रूप रंगों के माध्यम से परीक्षित है। साथ ही प्रश्नांकित करती है उस अग्निपरीक्षा को जिससे हर बार स्त्री को ही गुजरना पड़ता है। अगर सीता ने अग्निपरीक्षा देने से मना कर दिया होता तो शायद वर्तमान स्त्री के समक्ष यह मांग व उसके अधिकारों के नाम पर प्रत्येक क्षेत्र में उसे सीता मानकर अग्निपरीक्षा की उम्मीद न की जाती । फिल्म की शुरुआत वैदेही (मनीषा कोइराला) और उसके पति रघु (जैकी श्रॉफ) के वैवाहिक जीवन से होती है, जिसमें बाहर से वह एक परिष्कृत जीवन व्यतीत करती है, लेकिन बंद दरवाजे के पीछे उसका पति अभद्र है और विवाहेतर संबंधों में होने के कारण उसको मारता पीटता है। जब वह अपने ही पति से आत्म–सम्मान व प्रेम की मांग करती है तो उसे आत्म–सम्मान और प्रेम की जगह प्रताड़ना मिलती है। फलस्वरूप गर्भवती होने पर भी उसको घर से भाग कर अपनी जान व ममत्व की रक्षा करनी पड़ती है। वैदेही का ससुर कहता है, "एक बार बच्चा घर का वारिस हमें मिल जाए फिर हम इसे रास्ते से हटा देंगे।"[50] ऐसी परिस्थिति में वह अपने पिता के घर चली जाती है। वहां जाने पर उसके पिता का यह कहना कि पति का घर ही लड़की का असली घर होता है। एक लड़की के जीवन में उसके घर की तलाश को दिखाता है, जो तलाश एक स्त्री के लिए अभी तक बनी हुई है और कभी समाप्त नहीं होती। पिता, पति, पुत्र और न जाने कितने संबंधों में अपने होने का एहसास उसको जीवन भर करना होता है। ऊपर से स्त्री होते हुए भी घर पर आने से नाराज मां कहती है, "बेटी लड़की की डोली जिस घर में एक बार जाती है फिर वहां से उसकी अर्थी ही निकलती है।"[51] आज भी आधुनिकता के नाम पर हम सिर्फ अंधी दौड़ में लगे हुए हैं। परंतु सच तो यह है कि हमनें अपनी मानसिकता का विकास अभी भी ठीक से नहीं किया है। लड़के को ही घर का वारिस समझना और लड़की का कोई घर न मानना हमारे आधुनिक होने पर प्रश्न खड़ा करता है। जिसे फिल्म में बहुत ही बेबाकी से उठाया गया है।

[50] लज्जा फिल्म, (2001), निर्देशक राजकुमार संतोषी, दृश्य माध्यम,20 / 11 / 2019
[51] वही

वैदेही का अपने ही पति से जान बचाकर भागते हुए एक विवाह में शामिल हो जाना, जहां पति को वेद–पुराणों में परमेश्वर व रक्षक की भूमिका में जाना जाता है, वही किस प्रकार भक्षक बन जाता है। यह हमारे पितृसत्तात्मक समाज की संरचना को चिह्नित करता है। वैदेही जिस लड़की के विवाह में आयी है वह अपने विवाह से बहुत खुश है। तो वहीं दूसरी ओर मैथिली के पिता इतने प्रयासों के बाद भी लड़की वालों की मांगें पूरी करने व दहेज का पैसा देने में अक्षम हैं। अपनी पुत्री की खुशियों के लिए समाज में विभिन्न प्रकार से अपमानित होने के बाद भी विवाह की पूरी तैयारी करते हैं। हमारे समाज में दहेज जैसी कुप्रथा रही है जो समय व परिस्थितियों के साथ अपने रंग–रूप को बदलकर बढ़ती ही दिखाई पड़ती हैं।

प्रेमचंद के उपन्यास **'निर्मला' (1927)** में भी विवाह से पूर्व पिता का देहांत हो जाने के कारण 15 वर्ष की निर्मला का विवाह तीन बच्चों के पिता अधेड़ तोताराम से करना पड़ता है। निर्मला हो या मैथिली, बस नाम बदलते हैं। विवाह में दहेज न दे पाने के कारण पिता यह कहने पर मजबूर हो जाता है कि "पैदा होते ही मर जाती तो अच्छा होता।"[52] यह बात समाज में पिता की विवशता को दर्शाती है। इसे देखकर मैथिली विवाह करने से इंकार कर देती है और सभी अपमानों का उत्तर देती है। परंतु उसका यह विरोध भी अब एक नया प्रश्न खड़ा करता है कि अब उससे विवाह करेगा कौन? इसके बाद जानकी का किरदार निभा रही माधुरी दीक्षित अपनी कला के माध्यम से इसको और सशक्त रूप प्रदान करती है। जानकी हर हाल में प्रत्येक स्तर पर पुरुषों से समानता व अपनी आधी आबादी के अधिकारों की मांग करती है। इसलिए वह शराब पीना, सिनेमा हॉल में सीटी बजाना यहां तक कि सड़क के किनारे बैठकर पेशाब करना भी गलत नहीं समझती। उसका तर्क है जब मर्द कर सकता है, तो औरत क्यों नहीं? जानकी गर्भवती है परंतु विवाहित नहीं! मनीष नाम के एक अपने सहयोगी से प्रेम विवाह करना चाहती है। परंतु वह जिस नाटक मंडली में काम करती है उसका मालिक पुरुषोत्तमदास अपने से आधी उम्र की लड़की से विवाह करने के बाद भी जानकी को हर स्तर पर पाना चाहता है। इसके लिए वह उसके चरित्र को लेकर मनीष के मन में संदेह पैदा करता है। वह इस कार्य में सफल भी

[52] लज्जा फिल्म, (2001), निर्देशक राजकुमार संतोषी, दृश्य माध्यम,20/11/2019

भी हो जाता है। मनीष उसको बच्चे सहित अपनाने से इंकार कर देता है। पुरुषोत्तमदास कहता है कि "अगर तुमने मेरी बात मानी होती तो ऐसा नहीं होता।"[53] तब जानकी कहती है "रखैल बन जाऊं तेरी!"[54] जानकी का यह गुस्सा नौटंकी के दौरान सीता का अभिनय करते समय भी प्रदर्शित हो जाता है और वह समाज के समक्ष कुछ प्रश्न उठाती है, "रावण मुझे उठा कर ले गया इसमें मेरा क्या दोष था?हम दोनों पति–पत्नी एक दूसरे से अलग रहे। मैं अकेली अग्नि परीक्षा क्यों दूं? हम दोनों देंगे। सदियों से औरत ही सती होती आयी है। क्या कोई मर्द कूदा है अपनी औरत के लिए आग में?"[55] यह विरोध उसका अपने अधिकारों व एक समान भाव न मिलने के कारण है। वह प्रत्येक स्तर पर बराबरी की मांग करती है।

'लज्जा' फिल्म के माध्यम से औरत के आदर्शवादी रूप की आड़ में हमेशा से हो रहे उसके पतन को दिखाने की कोशिश की गई है। उसकी यह लड़ाई किसी पुरुष से नहीं पुरुषवादी संकीर्ण सोच व नारी को बढ़ते देख पुरुष के मन में अपने अस्तित्व को लेकर डर के प्रति है। वह इस पितृसत्तात्मक सोच से लड़ रही है जो हमेशा से सीता जैसी पत्नी की मांग करता आया है। वह न कमजोरन थी न है। जानकी कहती हैं, "मैं अकेली ही लड़ी थी उससे अशोक वाटिका में, तोड़ दिया था उसका मनोबल। छिन्न–भिन्न कर दिया था। मेरे साहस, धैर्य, विश्वास, प्रेम का यह फल मिल रहा है भरी सभा में मेरा अपमान और परित्याग?"[56] इन सभी संवादों के माध्यम से पौराणिकता का आधुनिकता से साक्षात्कार कर स्त्री साहस व उसकी क्षमताओं पर उठे प्रश्नों का उत्तर देती है। परंतु जानकी को इस विरोध का उत्तर जनता के हिंसक रूप से भीड़ द्वारा कुचलवा कर, बच्चे की गर्भ में ही मौत व पागलखाने जा कर चुकाना पड़ता है और यह सब पुरुषोत्तमदास करता है। वह कहती है, "रोटी कमाने के लिए औरत घर से बाहर निकली नहीं कि तनख्वाह देने वाला हर आदमी उसे अपने बाप का माल समझता है।"[57] यह संवाद वर्तमान कामकाजी औरत के जीवन में आती चुनौतियों की पुष्टि करता है। चाहे वह सिनेमा

[53] लज्जा फिल्म, (2001), निर्देशक राजकुमार संतोषी, दृश्य माध्यम,20/11/2019
[54] वही
[55] वही
[56] वही
[57] वही

हो या समाज उसका संघर्ष और अपने अस्तित्व को बचाने करने का प्रयास निरंतर चलता रहता है।

फिल्म में चौथी पात्र रामदुलारी (रेखा) का व्यक्तित्व बहुत सशक्त व निर्भीक दलित स्त्री का है। एक जवान पुत्र प्रकाश की मां होने के बाद भी वह ग्रामीण महिलाओं में शिक्षा व रोजगार को बढ़ाने का कार्य कर रही है। परंतु सदियों से छुआछूत और भेदभाव की राजनीति ने देश के प्रत्येक कोने में अपनी जड़ों को इस कदर फैलाया है कि आज 21वीं सदी में आधुनिक जीवन जीने के बाद दलित विमर्श जैसे प्रयासों से भी उबर नहीं पाए हैं। जिसका सबसे बुरा प्रभाव समाज की औरतों और बच्चों पर रहा है। रामदुलारी गांव की एक निम्न जाति की दाई है। उसका पुत्र उच्च जाति के प्रतिनिधि गांव के प्रधान गजेन्द्र की पुत्री से प्रेम करता है, जिसकी सजा उसकी मां के साथ बलात्कार व उसे जिंदा जलाकर दी जाती है। जाति प्रथा, ऊंच–नीच, लैंगिक भेदभाव जैसी समस्याएं आज भी भारत में व्याप्त हैं। इन मुद्दों पर यह फिल्म सोचने के लिए मजबूर करती है। निर्देशक राजकुमार संतोषी का यह प्रयास पात्रों के स्थान बदलने के साथ उनकी भाषा व ग्रामीण चित्रण के प्रयोग से और अधिक सफल दिखाई पड़ता है। नदी, वन, जल, गांव, शहर व न्यूयॉर्क के विभिन्न चित्रों का समावेश कहानी को और अधिक आकर्षक और जीवंत बना देता है। यह फिल्म वर्तमान स्त्री, दलित और आदिवासी विमर्शों के समक्ष अत्यंत मुखर रूप से अपनी उपस्थिति दर्ज कराती है।

लक्ष्मी (2014)

प्रातःकाल जब दैनिक अखबार हाथों में आते हैं तो किसी न किसी जीवन के तार–तार होने की दुःखद कथा सुनाते हैं। ये कथाएँ बदलते भारत के नाम और संस्कृति को मानो मुँह चिढ़ाती हैं। ऐसी ही एक कथा आंध्र प्रदेश राज्य के गरीब पिता की सुंदर पुत्री लक्ष्मी के वास्तविक जीवन पर आधारित फिल्म **'लक्ष्मी' (2014)** का आधार है यह मात्र फिल्म नहीं वरन हमारे समाज का एक आईना है जिसमें हम लक्ष्मी जैसी लड़कियों के साथ रोज घटने वाली घटनाओं की सच्ची तस्वीर देख सकते हैं। **'इकबाल' (2005)** और **'डोर' (2006)** के बाद नागेश कुकनूर की 'लक्ष्मी'

को बहुत सराहा गया।विशेष बात यह भी है कि उन्होंने अपनी फिल्म में खलनायक की भूमिका अदा कर देह–व्यापार में लिप्त दलालों की गतिविधियों को उभारने का प्रयास किया है। वेश्याओं की मौजूदगी एक ऐसा चिरन्तन सवाल है जिससे समाज हर युग में अपने–अपने ढंग से जूझता रहा है।

पन्द्रह वर्षीया लक्ष्मी नाबालिग होने के बावजूद मात्र तीस हजार में बेची जाती है। गरीब लक्ष्मी की सुंदरता उसके लिए अभिशाप बन जाती है। हमारे समाज में वेश्याओं को कभी लोगों ने सभ्यता की जरूरत बताया तो कभी स्वेच्छानुसार अपनाया गया पेशा ! इसका उदाहरण हम नगरवधू व देवदासी प्रथाओं के माध्यम से देख सकते हैं। **'वेश्या'** शब्द अपनी परंपरा के साथ जिस बिंब का वहन करता है, वह है– कामुक, पतिता, कुल्टा, चरित्रहीन आदि। सदियों से चले आ रहे ये शब्द धरती की सबसे बुरी औरत का रूपांतर एक ऐसी औरत के रूप में करते हैं जो किसी के लिए **'यूज–एंड–थ्रो'** तो किसी के लिए **'टाइमपास'** है। यह फिल्म वेश्यावृति के पूरे परिदृ श्य को दिखाती हुई हमारे भीतर उन असहाय स्त्रियों के प्रति करुणा उत्पन्न करने की कोशिश करती है। यह करुणा हमें प्रेरित करती है कि हम उन स्त्रियों की रक्षा के लिये आगे आएं जो किसी भी कारण इस बदनाम और नरक सदृश व्यवसाय में आ फँसी हैं। इस फिल्म के माध्यम से एक बात और सामने आती है। धर्मशालाओं–आश्रमों में रहने के लिए लाई गईं लड़कियों से देह व्यापार कराया जाता हैस फिल्म में खलनायक दलाल चिन्ना का कथन "चल मशीनों में तेल डाल फैक्ट्री खोलनी है।"[58] समाज में चल रहे देह व्यापार में स्त्री की मशीनी रूप में प्रस्तुति है, जिसमें दुःख, दर्द और खुशी किसी के लिए स्थान नहीं है। कहते हैं, हार के आगे जीत होती है। उसी जीत की प्रतीक्षा लक्ष्मी के जीवन में भी है। जब समाज में कोई भी कुरीति, समस्या, रूढ़ि, कुप्रथा आदि होती है तो उसका अंत भी होता है।

गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) की समाज–सुधार व समस्याओं के निदान में महत्वपूर्ण भूमिका दिखाई गई है। लेकिन इसमें समाज की सहभागिता आज भी बहुत कम है। घर से लापता लड़की जब वापस आती है तो उसके लिए कहीं कोई जगह नहीं बचती। समाज का तो कहना ही क्या परिवार भी उसे स्वीकार नहीं करता। उन

[58] लक्ष्मी फिल्म, (2014), निर्देशक नागेश कुकुनूर, दृश्य माध्यम, 20/01/2020

लड़कियों के पास देह व्यवसाय को अपने भाग्य में लिखा हुआ मानने और दुबारा उसी दुनिया में वापसी के अतिरिक्त कोई दूसरा मार्ग नहीं बचता। इस प्रकार समाज की उपेक्षा से उत्पन्न और अपने भाग्य के अधीन इस कार्य की स्वीकृति ही अंततः व्यवसाय का रूप ले लेती है। लक्ष्मी की मित्र कहती है, "घरवाले हमें अपनाना नहीं चाहते दोस्त पहचानने से इनकार करते हैं और दुनिया का बस चले तो किसी कोने में जाकर दफन हो जाए।"[59] यह पीड़ा उसे वापस दलदल में जाने को मजबूर कर देती है। 2003 में आई फिल्म 'पिंजर' की नायिका भी विवाह पूर्व जातीय बदले के भाव का शिकार हो जाती है। अपहरण के कुछ दिन बाद वहां से घर भाग आती है परंतु माता–पिता अपनाने से इनकार कर देते हैं। फिर उसे वापस उसी दलदल में जाना पड़ता है। यह अस्वीकार्यता भारतीय समाज की कठोर पितृसत्तात्मक समाज की मानसिकता का परिचायक है। लक्ष्मी एक निडर और निर्भीक लड़की होने के कारण वापस उस दलदल में नहीं जाना चाहती। वह बार–बार वहां से निकलने का प्रयास करती है। एक एनजीओ के माध्यम से उसे सफलता भी मिलती है। आत्मविश्वास से परिपूर्ण लक्ष्मी इस कुप्रथा के खिलाफ आंदोलन करने को तैयार हो जाती है।उसे दलाल द्वारा डराया धमकाया जाता है कि "मुन्नी यह सब कर सकेगी तू सोच ले इसके बाद जो होंगा उसका रिस्पॉन्स मेरा नहीं लास्ट चांस।"[60] लक्ष्मी डरती नहीं।कहती है, "मैं कोर्ट जाऊंगी।"[61]

लक्ष्मी उन तमाम दबी–कुचली भयभीत स्त्रियों को इन सभी चुनौतियों का सामना करने का साहस देती है। कोर्ट के बाहर वकील के 'तैयार हो?' का उत्तर 'क्या आप तैयार हैं?' कहकर लक्ष्मी देती है। कितनी तकलीफों के बाद मात्र 15 साल की लक्ष्मी का साहस देखकर वकील कहता है कि "तुम दुनिया की सबसे बहादुर लड़की हो।" यह कहना स्त्री के संघर्ष का सम्मान है। ऐसी फिल्में भारतीय समाज में स्त्रियों की बदलती स्थिति को भी दिखाती हैं। हिंदी सिनेमा ने लगातार ऐसी स्त्रियों की आवाज उठाई है। उन्हें अधिकारों के प्रति जागरूक कर तथा कोर्ट रूम तक पहुंचाकर निरंतर संघर्ष के लिए प्रेरित किया है।

---

[59] लक्ष्मी फिल्म, (2014), निर्देशक नागेश कुकुनूर, दृश्य माध्यम, 20/01/2020
[60] वही
[61] वही

जब स्त्री ने कुछ अलग करने और अपने अधिकारों के प्रति आवाज उठाने का साहस किया है तो उसे रोकने व दबाने के तमाम प्रयास किए गए हैं। लक्ष्मी का दृढ़ निश्चय इन चुनौतियों से बदलने वाला नहीं था। उसकी मुक्ति का बिगुल बज चुका था। सवालों के बीच घिरी लक्ष्मी से वकील पूछता है, "धर्म विलास एक आश्रम है?"[62]

लक्ष्मी कहती है, "नहीं धर्म विलास एक कोठा है।"[63]

वकील –"तुमसे हॉस्टल में क्या कराया जाता था?"[64]

लक्ष्मी– "सेक्स हर रोज।"[65]

वकील– "तुम सेक्स और रेप का मतलब समझाओगी?"

लक्ष्मी– "मुझे समझाना नहीं आता पर मेरे साथ हुआ बार–बार हुआ जिसके साथ होता है वही समझता है।"[66]

हिंदी सिनेमा में कोर्ट रूम का यह स्वरूप दामिनी, पिंक, मॉम आदि फिल्मों में देखने को मिलता है, जो हमारे समाज में एक खुलापन भी पैदा करता है। अंत में लक्ष्मी की जीत दर्शकों को बहुत प्रभावित करती है। लड़ने की शक्ति भी देती है। देह–व्यापार जैसे संवेदनशील और ज्वलन्त विषयों पर साहित्य और सिनेमा अपने–अपने तरीकों से समाज को संदेश देकर जागरूक करते रहे हैं। फिल्म से कम लागत में भी एक बड़ा दर्शक वर्ग प्रभावित होता नजर आता है जो एक फिल्मकार की सफलता भी है।

छपाक (2020)

लक्ष्मी अग्रवाल के व्यक्तिगत जीवन पर आधारित फिल्म **'छपाक'** मेघना गुलजार के निर्देशन में बनी है। 'तलवार' और 'राजी' के बाद 'छपाक' फिल्म की सफलता से मेघना गुलजार ने महिला सशक्तीकरण के क्षेत्र में अपनी उपस्थिति दर्ज

[62] लक्ष्मी फिल्म, (2014), निर्देशक नागेश कुकुनूर, दृश्य माध्यम, 20/01/2020
[63] वही
[64] वही
[65] वही
[66] वही

करा ली है। डॉ जवरीमल्ल पारख फिल्म 'छपाक' को स्त्री सौंदर्य का अनूठा प्रतिमान बताते हुए लिखते हैं, मेघना गुलजार निर्देशित 'छपाक' स्त्री सौंदर्य का ऐसा प्रतिमान स्थापित करती है जो आज से पहले हिंदी सिनेमा में कभी किसी निर्देशक ने और न ही किसी अभिनेता अभिनेत्री ने स्थापित करने का साहस किया था ।

लक्ष्मी अग्रवाल पन्द्रह वर्ष की आयु में एक चौतिस वर्षीय व्यक्ति के प्रेम को अस्वीकार कर देती है। इस घटना ने लक्ष्मी का पूरा जीवन बदल कर रख दिया स 'छपाक' एसिड अटैक सरवाइवर लक्ष्मी अग्रवाल की सच्ची घटना पर आधारित है। एसिड अटैक के बाद सात सर्जरी के बावजूद लक्ष्मी अपने चेहरे की उस सुंदरता के दसवें हिस्से को भी हासिल नहीं कर पाती है, जो एसिड फेंके जाने से पहले थी। मालती कहती है, "कितना अच्छा होता एसिड बिकता नहीं तो मिलता भी नहीं तो फेंकता भी नहीं।"[67] इस घटना से मालती का आत्मविश्वास डगमगा जाता है। उसका जीवन निराशा से भर जाता है। उसके सपने चकनाचूर हो जाते हैं। वह निरुद्देश्य जीवन के लिए अभिशप्त हो जाती है। मीडिया में उससे पूछा जाता है, "मालतीजी आप अपना चेहरा दिखाएंगी ताकि जनता को इस हिंसा की गहराई दिख सके।"[68] अस्वीकार से अहंम पर लगी चोट ने इतना विकराल रूप धारण कर लिया कि वह व्यक्ति पशुवत व्यवहार करने लगा। अगर थोड़ा पीछे चलते हैं तो आदि काल में यदि किसी प्रभावशाली व्यक्ति को कोई स्त्री पसंद आ जाती थी तो वह सैनिक बल से उसका अपहरण कर लेता था।, स्त्री की सहमति का प्रश्न नहीं था। फिर आया रीति काल। इसमें चापलूसी, प्रलोभन व कारनामों से नायिका मिल ही जाती थी। आधुनिक काल में स्त्री ने मना करना सीख लिया। यह उसके पुरुषत्व को चुनौतीपूर्ण लगा। वह मना कैसे कर सकती है? अब मैं तुमको दिखाता हूं। इसी मानसिकता का परिणाम हमारे समाज में दिन–प्रतिदिन बढ़ते एसिड अटैक, बलात्कार, शोषण, यौन–हिंसा आदि हैं। श्एसिड पहले इंसान के मस्तिष्क में घुलता है तब हाथ में हाथ से गिलास में आता है। संकीर्ण मानसिकता एवं पुरुषवादी सोच के चलते व्यक्ति भूल जाता है कि उसके निर्दय व्यवहार से किसी की पहचान छिन जाती है। साज–सज्जा की शौकीन मालती अटैक के बाद कहती है, "नाक नहीं है कान नहीं है झुमके कहां

[67] छपाक फिल्म, (2020), निर्देशक मेघना गुलजार, दृश्य माध्यम, 20/03/2020
[68] वही

लटकाऊं?"[69] उसके मन में अपने विकृत हुए शरीर के प्रति निराशा है, जिसके कारण वह आगे नहीं बढ़ पा रही है। भारतीय समाज में जिस प्रकार वेश–भूषा, भाषा और रहन–सहन में विविधता है, उसी प्रकार कुरीतियों व अपराध के भी विभिन्न रूप व्याप्त हैं। ऐसी घटनाओं के मूल कारण स्त्रियों का आत्मविश्वास से भरा होना, शिक्षा की चाह, आर्थिक रूप से मजबूत होकर आत्मनिर्भर होने के सपने देखना आदि हैं। जिसे देखकर पितृसत्तात्मक समाज अपने बनाए मापदंडों को संकट में पाता है। इसका शिकार मालती जैसी अधिकतर लड़कियों को होना पड़ता है। मालती अकेली नहीं, हर दिन न जाने कितनी मालती किसी न किसी रूप में हिंसा का शिकार होती हैं। मालती की वकील कहती है, "अटैक उन्हीं लड़कियों पर हुआ जो या तो पढ़ना चाहती थीं या बढ़ना चाहती थीं।"[70] उनके बढ़ने से अपने अस्तित्व को संकट में समझने वाला पितृसत्तात्मक समाज आधी आबादी व अर्धांगिनी के महत्व को स्वीकार नहीं करना चाहता परंतु मालती जैसी सशक्त महिलाएं इतने बुरे दौर से गुजरने के बाद भी अपनी आवाज बुलंद कर न्याय की गुहार लगाती सुप्रीम कोर्ट तक जाने का जोखिम उठाती हैं।

भारतीय न्याय प्रक्रिया में देरी व निष्पक्षता के अभाव के कारण कभी–कभी इस प्रकार के दोषी बच निकलते हैं। 16 दिसंबर 2012 को नई दिल्ली में निर्भया सामूहिक बलात्कार केस के बाद जनता में जागरूकता व उसके बाद मालती का एसिड की बिक्री पर रोक को लेकर संघर्ष इतिहास के पन्नों में दर्ज हो गये हैं। "सेशन कोर्ट के बाद हाईकोर्ट उसके बाद सुप्रीम कोर्ट बहुत साल चलने वाला है यह, शोर की आदत डाल लो।"[71] इंसाफ के लिए धैर्यवान मालती का साहस और बढ़ जाता है, जब वह अमोल से मिलती है। अमोल एक गैर सरकारी संगठन (एनजीओ) चलाता है जो एसिड अटैक पीड़ित महिलाओं की देखभाल व उनके अधिकारों के लिए जागरूकता का कार्य करता है। मालती की शारीरिक सुंदरता न होने के बावजूद वह उससे प्रेम विवाह करता है। मालती कहती है, "उसने मेरी सूरत बदली

[69] छपाक फिल्म, (2020), निर्देशक मेघना गुलजार, दृश्य माध्यम, 20/03/2020
[70] वही
[71] वही

है मन नहीं।"[72] मन की इसी सुंदरता व निडर भाव से मालती फिर एक बार मुस्कराने लगती है। उसकी लड़ाई मात्र अपने लिए नहीं बल्कि आने वाले समय में फिर कोई मालती बनने को मजबूर न हो, उन सभी के लिए है। **'छपाक'** फिल्म कुशल निर्देशन व दमदार अभिनय के कारण दर्शकों को बहुत प्रभावित करती है। सिनेमा से समाज व निर्देशक से दर्शक का जब अंतर्मुखी संवाद होता है, तभी इस तरह की फिल्मों का निर्माण होता है। दर्शकों को क्या दिखाना है, कैसे दिखाना है, यह एक सफल निर्देशक के लिए महत्वपूर्ण है।

इससे पहले भी हिंदी सिनेमा में **1978 में 'सत्यम शिवम सुंदरम'** की रूपा का गाल आग से जल जाने पर चेहरा कुरूप हो जाता है। प्रारंभ में राजीव रूपा के संगीत से प्रभावित हो उससे प्रेम करने लगता है। लेकिन विवाह के बाद जब वह रूपा का जला हुआ चेहरा देखता है तो उसे पत्नी रूप में स्वीकार नहीं करता है। अंत में राजीव को अपनी गलती का अहसास होता है। वह यह समझ जाता है कि सूरत से अधिक महत्व सीरत का होता है। अंततः वह रूपा को पत्नी स्वीकार कर समाज में ऐसी महिलाओं की उपस्थिति दर्ज कराता है। उसके बाद **'प्रेम रोग' (1982), 'राम तेरी गंगा मैली' (1985), 'मन' (1999), 'विवाह' (2006)** आदि के माध्यम से तन की सुंदरता को गौण व मन की सुंदरता को मुख्य बताने का प्रयास किया गया है।

4.2. महिला सशक्तीकरण पर आधारित फिल्में

महिला सशक्तीकरण में सामाजिक, आर्थिक, राजनैतिक और कानूनी मुद्दों पर संवेदनशीलता और सरोकार व्यक्त किया जाता है। सशक्तीकरण की प्रक्रिया में समाज को पारंपरिक पितृसत्तात्मक दृष्टिकोण के प्रति जागरूक किया जाता है, जिसने महिलाओं की स्थिति को सदैव कमतर माना है। वैश्विक स्तर पर नारीवादी आंदोलनों और यूएनडीपी आदि अंतर्राष्ट्रीय संस्थाओं ने महिलाओं की सामाजिक समता, स्वतंत्रता और न्याय के राजनीतिक अधिकारों को प्राप्त करने में महत्वपूर्ण भूमिका

[72] छपाक फिल्म, (2020), निर्देशक मेघना गुलजार, दृश्य माध्यम, 20/03/2020

निभायी है। महिला सशक्तीकरण भौतिक, आध्यात्मिक, शारीरिक और मानसिक सभी स्तरों पर महिलाओं में आत्मविश्वास पैदा कर उन्हें सशक्त बनाने की प्रक्रिया होती है।

इसी क्रम में **'अंतर्राष्ट्रीय महिला दिवस'** हर वर्ष आठ मार्च को विश्व के विभिन्न देशों में मनाया जाता है। महिलाओं के प्रति सम्मान, प्रशंसा और प्रेम प्रकट करते हुए इस दिन को महिलाओं को समर्पित किया गया है।

इस मुहिम में हिंदी सिनेमा ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। पिछले दो दशकों में हिंदी सिनेमा के विषय में भी बहुत बदलाव आया है। अब वह मात्र मनोरंजन का साधन नहीं अपितु उसका सामाजिक सरोकार भी है। आजादी के सात दशक बीत जाने के बाद भी जिस तरह हमारे देश में शिक्षा, स्वास्थ्य, औद्योगीकरण, रोजगार, नगरीकरण के क्षेत्र में वृद्धि होने के साथ ही समाज में सामाजिक और राजनीतिक चेतना विकसित हो रही है। उसके सापेक्ष महिलाओं की स्थिति उतनी संतोषप्रद नहीं दिखाई देती। हालांकि कुछ दशकों से हमारे देश में महिलाओं की शैक्षिक स्थिति में सुधार जरूर आया है, फिर भी साक्षरता का फीसद पुरुषों की तुलना में कम ही है। महिला सशक्तीकरण से संबंधित कुछ प्रमुख फिल्मों का विश्लेषण इस प्रकार है–

मैरी कॉम (2014)

'मैरी कॉम' फिल्म एक स्त्री की जिजीविषा और प्रगतिशील चेतना की सशक्त अभिव्यक्ति है। छह बार मुक्केबाजी की विश्व चौंपियन रह चुकी मैरी कॉम तमाम लड़कियों–औरतों के लिए प्रेरणा की तरह है। स्त्री भागीदारी को लेकर हमेशा उदासीन रहा हिंदी सिनेमा अब जागरूक हो चुका है।इसका आगाज 1935 में होमी वाडिया के निर्देशन में बनी फिल्म 'हंटरवाली' से ही हो गया था। जिसमें एक विदेशी अभिनेत्री फियरलेस नादिया ने एक साहसी निडर स्त्री का मुख्य किरदार निभाया था। इसके बाद 21 वीं सदी के हिंदी सिनेमा ने महिला संबंधी प्रत्येक मुद्दे को समाज से रूबरू कराया।

इसी कड़ी में व्यक्तित्व आधारित फिल्मों ने भी समाज में जोश, जुनून व जागरूकता पैदा की है। इसके लिए 2014 को स्त्री सिनेमा के विकास में विशेष रूप

से रेखांकित किया जाता है क्योंकि इस वर्ष लगभग एक दर्जन फिल्मों का निर्माण हुआ। जिसने स्त्री छवि को पूरा बदल दिया। इस वर्ष प्रदर्शित फिल्मों में डेढ़ इश्किया, हाईवे, गुलाब गैंग, क्वीन, कांची, रिवॉल्वर रानी, मरदानी, हैदर, लक्ष्मी, अनुराधा, सुपरनानी, रंगरसिया, मैरी कॉम आदि हैं। मैरी कॉम भारत के उस हिस्से मणिपुर की रहने वाली हैं, जहां आजादी के वर्षों बाद लोगों को बताना पड़ता है कि वे भारतीय हैं। फिर भी उन्होंने एक ऐसा खेल चुना जिसमें पुरुषों का दबदबा रहा है। भारत में मुक्केबाजी में महिला खिलाड़ी ढूंढ़े नहीं मिलती थी।आज भी संख्या अधिक नहीं है। यह सिनेमा का प्रभाव ही है कि भारत को विश्व पटल पर खड़ा करने वाली महिला खिलाड़ियों से हम परिचित हो पाए हैं। मैरीकॉम के जीवन–संघर्ष को अभिनेत्री प्रियंका चोपड़ा ने बहुत ही जीवंत तरीके से निभाया है। फिल्म देखते समय दर्शकों का इस प्रकार साधारणीकरण हो जाता है कि वे प्रियंका चोपड़ा को ही मैरीकॉम मान लेते हैं। यह निर्देशक उमंग कुमार व प्रियंका चोपड़ा की बड़ी सफलता मानी जाती है। मैरीकॉम के माध्यम से हमें एक स्त्री की अपने सपने के प्रति जिद, संघर्ष, व्यक्तिगत व पेशेवर जीवन में लगातार आ रही चुनौतियों का पता चलता है। इन चुनौतियों का सामना करने में उसके माता–पिता और विशेष रूप से उसके पति का सहयोग समाज की रूढ़िवादी सोच को संवेदनशील बनाने का कार्य करता है। फिल्म द्वारा समाज में पुरुषों के रक्षक व भक्षक दोनों रूप दिखाई पड़ते हैं। शुरुआती दौर में पिता का खेल के प्रति विरोध करते हुए कहना "यह लड़कियों का खिलौना नहीं है।"[73] तो वहीं कोच का विशेष कहना, "तुम मंजिल की तरफ चलोगे तो वह भी तुम्हारी तरफ चलेगी।"[74] यह कथन उसके अंदर अपने सपनों के प्रति दृढ़ विश्वास पैदा करता है।

तीन बार विश्व चौंपियन रहने के बाद विवाह का फैसला उनके कोच को दुखी कर देता है। उसके बाद दो बच्चों की मां बनने पर उसे अपने सपनों को खोने का एहसास होता है। जिसे पति महसूस कर सहयोग करने का मन बनाता है और उसके अन्दर छिपे फाइटर को जीवित करते हुए कहता है, "तुम एक फाइटर हो और

[73] मैरी कॉम फिल्म, (2014), निर्देशक उमंग कुमार, दृश्य माध्यम, 24/10/2019
[74] वही

फाइटर कभी हार नहीं मानता।"[75] दोहरी चुनौतियों के साथ खेल में वापसी करने के लिए डरती हुई वह कोच के पास जाती है। "आपके बिना मैं लड़ सकती हूं पर जीत नहीं सकती।"[76] यह वाक्य जीवन में गुरु व मार्गदर्शन के महत्व को दर्शाता है। "एक औरत मां बनकर बहुत मजबूत हो जाती है और अब तुम्हारी ताकत भी दोगुना बढ़ गई है।" कोच के इस कथन में एक मां का महत्व अंतर्निहित है। ऐसा सहयोग स्त्रियों के प्रति पुरुषों की जिम्मेदारी की ओर संकेत करता है। यह सहयोग वैवाहिक जीवन में भी सपनों को जिंदा रखने व आगे बढ़ने का साहस देता है।

'मैरी कॉम' देखने के बाद लगता है जिस तरह पुरुष की उन्नति में महिला का योगदान होता है, उसी तरह एक सफल स्त्री के पीछे भी विभिन्न रूपों में पिता, पति, भाई, कोच, मित्र आदि का भी सहयोग होता है। फिल्म में खेल प्रशासन का पक्षपाती नजरिया व क्षेत्रवाद भी दिखता है। "अगर अच्छा पोषण व निष्पक्ष चुनाव हो तो देश के हर कोने से खिलाड़ी आएंगे चाय और केले में कैसे लड़ा जा सकता है।" मैरीकॉम प्रशासन पर प्रश्न उठाती हुई यह मीडिया के सामने बात रखती है। व्यक्ति को आधार बनाकर बदले का भाव सोचने पर मजबूर करता है। जहां पर एक फेडरेशन अध्यक्ष का मुख्य कार्य क्षेत्र की लड़कियों को बढ़ावा देना होता है। वहीं फेडरेशन के अध्यक्ष का यह कहना कि 'तुम्हारे सपने में जो बॉक्सिंग का शब्द है यह निकालकर छोड़ूंगा' उसकी पक्षपाती मानसिकता का सूचक है। हमेशा वह इस बात से डरती रही कि आवाज उठाई तो खेल से निकाल दिया जाएगा। किंतु अंत में वह कहती है, "कभी किसी को इतना भी मत डराओ कि डर ही खत्म हो जाए।"[77] यह जवाब मैरी कॉम का अध्यक्ष के माध्यम से उस पूरे समाज को है जो संकुचित मानसिकता के कारण स्त्री को बढ़ती देख खतरा महसूस करता है। बदलते सिनेमा ने समाज में क्रांति ला दी है।

मैरी कॉम के बाद स्वच्छंद जीवन को बढ़ावा देती 'क्वीन' विवाह संस्था को चुनौती देती है। 'पंगा' कबड्डी खेल पर आधारित फिल्म है। इसमें एक विवाहित स्त्री जो कबड्डी खेल में अपना कैरियर बनाना चाहती है, के परिवार और भविष्य का

[75] मैरी कॉम फिल्म, (2014), निर्देशक उमंग कुमार, दृश्य माध्यम, 24/10/2019
[76] वही
[77] वही

अंतर्द्वंद दिखाया गया है। सुल्तान, साला खडूस, दंगल आदि फिल्मों ने न केवल स्त्री चेतना के स्वर को मुखर किया है, अपितु भारतीय समाज में पुरुषों की सोच को भी लचीला किया है, जिसका परिणाम भारत में खेलों व विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ती महिलाओं की सहभागिता है। यह इस सोच को बदलने का भी कार्य करती है कि यह क्षेत्र केवल पुरुषों का है। सिनेमा ऐसी पटकथाओं के माध्यम से स्त्री में नई ऊर्जा संचार करता है। जिसके परिणामस्वरूप पीवी सिंधु 'बैडमिंटन', सानिया मिर्जा 'टेनिस', झूलन गोस्वामी 'क्रिकेट', दीपिका कुमारी 'तीरंदाजी', गोल्डन गर्ल दीपा करमाकर 'जिमनास्टिक', साक्षी मलिक, गीता फोगाट 'कुश्ती', पूजा रानी, लवली बोरगोहेन, सरिता देवी 'मुक्केबाजी' खेलों के माध्यम से विश्व पटल पर भारत और स्त्री शक्ति का लोहा मनवाया है।

साँड़ की आँख (2019)

हिंदी सिनेमा स्त्रियों की दशा और दिशा को सुधारने में अहम भूमिका निभा रहा है। सिनेमा का स्त्री, दलित, आदिवासी और किन्नर आदि के हितों को प्रश्न रूप में समाज के सामने प्रस्तुत करने का कार्य जारी है। सिनेमा स्त्री की क्षमता, सामर्थ्य, कर्मठता, निर्भीकता और स्वाभिमान को बढ़ाकर ऐसा नारी रूप निर्मित कर रहा है, जिससे पुरुषवादी समाज स्वयं उसका सम्मान करे। उसकी शक्ति को पहचाने और उससे प्रेरणा ग्रहण करने के लिए विवश हो जाए। इसके लिए उसे अपनी संकल्प शक्ति, बौद्धिकता, आर्थिक–विकास, शिक्षा, जागरूकता और विचार–संप्रेषण को सुदृढ़ करना होगा, जिससे वह पुरुष के स्थान पर खड़े होने की चाह रखने की अपेक्षा स्वयं नारी रूप में अपनी पहचान बनाने में समर्थ हो सके। इसकी पहल सिने जगत में व्यक्तित्व आधारित फिल्मों के माध्यम से देखने को मिलती है।

सिनेमा इन संघर्षशील व्यक्तित्वों के माध्यम से समाज को उनके जीवन से सीखने व आगे बढ़ने को प्रोत्साहित कर रहा है। ऐसी ही फिल्म **'सांड़ की आंख' 2019** में तुषार हीरानंदानी के निर्देशन में बनी थी। इसमें तापसी पन्नू (प्रकाशी तोमर) और भूमि पेडनेकर (चंद्रो तोमर) के जोरदार अभिनय से दर्शकों के मनोरंजन के साथ–साथ मार्गदर्शन भी होता है। 'सपने देखने की कोई उम्र नहीं होती जैसे वाक्यों

को सार्थक करती '**सांड़ की आंख**' 60 वर्षीया दो महिलाओं के जीवन संघर्ष की कहानी है। यह फिल्म समाज की रूढ़िवादी सोच व लिंग–भेद का विरोध करती है। दादियों का अपने सपनों के प्रति समर्पण आने वाली पीढ़ियों की उन्नति का मार्ग भी सुगम करता है। बागपत के जोहर गांव की यह कहानी तोमर परिवार की बहुओं चंद्रो और प्रकाशी की है। वे अपनी जिंदगी में घर पर खाना पकाने, पति की सेवा, खेत जोतने और भट्ठी में काम करने के बाद भी दुपट्टे के रंग से पहचानी जाती हैं। उनकी पूरी दुनिया घर की दहलीज तक सीमित है। जिसके बाहर निकलना अपराध की तरह है।

पितृसत्तात्मक सामंती व्यवस्था ने सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सीमित कार्यक्षेत्र और संपत्ति अधिकारों से वंचित कर स्त्री को पुरुष वासना की तुष्टि का मांसल यंत्र बना दिया है। इसी मांसल यंत्र को तोड़कर निशानेबाजी में मिसाल कायम करती ये सच्ची कहानी उन लोगों को जवाब है। जिनकी धारणा यह थी कि "बंदूक मजाक ना है यह मर्दों का गहना है और मर्दों के हाथ में ही अच्छा लगे है।"[78] इसका जवाब चंद्रो देती है, "मर्दानगी धोती और मूंछों में ना होवे है मर्दानगी जिगर में होवे है।"[79] पत्नी की कमाई पर जीवन यापन करने वाले पुरुष भी उन्हें अपने तरीके से चलाना चाहते हैं। उन्हें आगे बढ़ने से रोकते हैं। लेकिन जिद व इच्छाशक्ति इंसान को ऊंचाइयों तक पहुंचाती है।

"तन बुड्ढा होवे है मन बुड्ढा नहीं होता।"[80] फिल्म का यह संवाद उस इच्छाशक्ति को निरूपित करने का सफल प्रयास है। घर में सभी की चोरी से निशानेबाजी सीखना और बहाना बनाकर हर बार टूर्नामेंट खेलने जाना आखिर कितने दिन चल सकता है। सच एक दिन सामने आ ही जाता है। जब चंद्रो के बेटे को इस बात का पता चलता है तो वह घरवालों को बताना चाहता है। महिलाओं की निडरता, बुद्धिमत्ता व निष्पक्षता के आगे सब छोटा हो जाता है। चंद्रो बंदूक उठाकर कहती है, "अगर तीन–चार की जिंदगी बनावे खातिर तेरे एक की जान भी लेनी पड़ जाए ना

[78] सांड़ की आंख फिल्म, (2019), निर्देशक तुषार हीरानंदानी, दृश्य माध्यम, 26/03/2020
[79] वही
[80] वही

तो कोई हर्ज ना है बेटा।"[81] वहीं 1957 में 'आयरन लेडी' के रोल में उभरकर आई फिल्म 'मदर इंडिया' का प्रभाव आज भी हिंदी सिनेमा व समाज पर दिखाई पड़ता है। तभी प्रकाशी उसको पकड़ लेती है, **"अब तू बता बेटा मदर इंडिया का बिरजू बनेगा या रामू?"[82]**

स्त्री चेतना का यह स्वर भारतीय समाज में परंपराओं के टूटने व उनके प्रति विरोध को दर्शाता है। परंपराएं रूढ़ होने से समाज का विकास व सोच भी संकुचित हो जाती है। इसीलिए उनमें परिवर्तन समय की मांग रही है। परंपराओं से मतलब समाज के विकास क्रम में बने रीति–रिवाजों और सामाजिक मूल्यों से है जिन्हें मानते हुए समाज चलता है। जब ये समाज की उन्नति–मार्ग में अवरोध उत्पन्न करती हैं तो विरोध के स्वर मानव जाति के विकास के लिए उठते हैं।

समाज की आधी आबादी को उसके हिस्से का हक भी स्वेच्छा से नहीं मिला है। प्रसिद्ध लेखिका राजी सेठ कहती हैं, स्त्री की चुनौती अपने समीकरण को छोड़कर पुरुषों के समीकरण को पाना नहीं बल्कि अपने सत्य के माध्यम से परिधि तक जाना है। और यही सही अर्थों में स्त्री विमर्श का उद्देश्य होना चाहिए। स्त्री पुरुष के नहीं अपितु अपने स्थान तक पहुंचने के लिए प्रयासरत है। जिस तरह चंद्रो–प्रकाशो देश के विभिन्न हिस्सों में अपना लोहा मनवाती हैं, उन्हें डर है कि कहीं घर पता चलने पर उन्हें रोक ना दिया जाए। कभी–कभी किसी सही उद्देश्य की पूर्ति के लिए जीवन में कुछ गलत तरीकों का भी सहारा लेना पड़ता है। टूर्नामेंट जीत के बाद मीडिया का सवाल "दादी आपकी उम्र कितनी है? औरत चाहे किसी भी मुकाम पर पहुंच जाए पर अपनी सही उम्र बताने से कतराती है।"[83] चंद्रो तोमर कहती हैं, "सही उम्र बताने में क्या है पर असल में औरत उस उम्र का सही हिसाब ना लगा सके है जो उसने अपने लिए जी हो।"[84] यह संवाद स्त्री के जीवन भर निःस्वार्थ समर्पण को दिखाता है।

---

[81] सांड़ की आंख फिल्म, (2019), निर्देशक तुषार हीरानंदानी, दृश्य माध्यम, 26/03/2020
[82] वही
[83] वही
[84] वही

समाज में घरेलू कामकाजी जीवन जीने वाली महिलाओं के सपनों व काम का कोई मूल्य, कोई तनख्वाह कोई पेंशन नहीं होती। जब वह साहस कर समाज व परिवार से लड़कर बाहर निकलती है तो लोग उस पर हंसते हुए उसकी योग्यता पर सन्देह करते हैं। दादी से कोच का यह कथन मील का पत्थर साबित होता है, "लोग तो हमेशा से हंसे हैं ताई, लोग तो लुगाई से जन्म लेकर फिर उसी का मजाक बनावे।"[85] कोच के रूप में समाज में सहयोगी व प्रगतिशील पुरुष की कल्पना की गई है। जिससे आने वाले समाज में लिंग–भेद जैसी समस्या से उबरा जा सके। दादियों के संघर्ष का मूल कारण उनकी पोती व आने वाली पीढ़ी के विकास के लिए होता है। जिसमें वह सफल भी होती हैं और उनकी पोती सीमा तोमर भारतीय निशानेबाज बनकर गांव, समाज का नाम रोशन करती है। अपूर्वी चंदेला, हिना सिद्धू, सुमा शिरूर, मनु भाकर, महेश्वरी चौहान आदि महिलाओं ने भारतीय समाज में स्त्री छवि को निखारने का कार्य बखूबी किया है। यह हिंदी सिनेमा के माध्यम से मजबूत मुद्दों की प्रस्तुति व 'सांड़ की आंख' जैसी फिल्मों का योगदान है।

इसी श्रेणी में **'दंगल' (2016)** फिल्म ने कुश्ती जीवन व हरियाणा के समाज में एक पुरुष व उसकी बेटियों के साहस को दिखाकर नई दिशा दी है। 'सांड़ की आंख' फिल्म में अभिनय व संगीत कहानी के अनुसार बेहतर है। पात्रों का चयन थोड़ा कमजोर दिखाई पड़ता है। जिस तरह साठ वर्षीया महिला का किरदार तापसी व भूमि ने निभाया है उन्हें देखकर यही लगता है कि उनकी जगह नीना गुप्ता, रत्ना पाठक, शबाना आजमी आदि कहानी में अधिक प्रभाव पैदा कर सकती थीं। पात्रों के गलत चयन का परिणाम **'गोदान' (1963)** व **'तीसरी कसम' (1966)** जैसी फिल्मों में हम देख चुके हैं। श्गोदानश में राजकुमार और **'तीसरी कसम'** में राजकपूर की भूमिका दर्शकों को पसंद नहीं आयी। इसका कदाचित कारण यह भी हो सकता है कि इनके द्वारा निभाई भूमिका व्यक्तित्व से मेल नहीं खाती थी। फिल्म में कथावस्तु के साथ–साथ पात्रों का चयन भी महत्वपूर्ण होता है। कुछ बातों को अगर नजरअंदाज कर दें तो पटकथा व अभिनय 'सांड़ की आंख' का मजबूत पक्ष है। यह फिल्म महिला सशक्तीकरण का संदेश देती है।

[85] सांड़ की आंख फिल्म, (2019), निर्देशक तुषार हीरानंदानी, दृश्य माध्यम, 26/03/2020

4.3. समसामयिक मुद्दों पर आधारित फिल्में

आज आधुनिकता स्वयं को नए ढंग से खोज रही है और वह उजागर होकर अपने होने का एहसास भी कराना चाहती है। साहस, महत्वाकांक्षा, निर्भीकता, आत्मनिर्भरता आज की स्त्री की प्रमुखताएं हैं। इन गुणों को ही स्त्री आधुनिकता समझ रही है। कई बार आधुनिकता एक मुखौटा मात्र रह जाती है और इसके नाम पर व्यक्ति दिशाहीन होकर पथभ्रष्ट हो जाता है। आधुनिकता से तात्पर्य जर्जर परंपराओं को त्यागकर तार्किक ढंग से सोचना है। आज ज्वलंत मुद्दों को लेकर एवं जीवन पद्धतियों में आए बदलाव को आत्मसात करने वाली नायिकाओं को केंद्र में रखकर फिल्में बन रही हैं। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक आते–आते नारी ने पुरुषों की एकाधिकार वाले क्षेत्रों में प्रवेश करके स्वयं को हर प्रकार से सक्षम सिद्ध किया है। इन फिल्मों के माध्यम से अर्थ जगत में भी कदम रखती इस स्त्री ने अपनी संज्ञा बदली है। वर्तमान समय में स्त्री पारिवारिक रिश्तों के साथ–साथ बाहरी क्षेत्रों जैसे– राजनीति, समाज, आर्थिक, विज्ञान, कला आदि में महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभा रही है।

इन सारी भूमिकाओं को फिल्म में भी नायिका द्वारा निभाया जाता है। इसके बावजूद हमारे समाज में बलात्कार, एसिड अटैक, अपराध, अपहरण, शोषण, नारी को प्रत्येक क्षेत्र में कमतर आंक कर अपमान आदि विभिन्न विकृतियां जन्म ले रही हैं। लेकिन अब नारी स्वयं खलनायिका की भूमिका में भी उभरकर सामने आ रही है। अबला से सबला की यात्रा पर निकली स्त्रियों में से कुछ खलनायिका के पथ की ओर भी अग्रसर हुई हैं। आज उसका ही शोषण नहीं होता अपितु वह भी शोषण करने की स्थिति में आ गयी है। इसके पीछे भी विभिन्न कारण है। आज वह खलनायिका की भूमिका में नजर आ रही है तो यह भी हमारे समाज और उसके जीवन में घटी घटनाओं का परिणाम है। परिस्थितियों ने उसे सीता से दुर्गा और काली बनने पर मजबूर किया है।

जिसके उदाहरण बैंडिट क्वीन, रिवॉल्वर रानी, गुलाब गैंग आदि फिल्मों में देख सकते हैं। जब उसे मनुष्य होने तक के सम्मान और अधिकारों से वंचित किया जाता है तब वह अहिंसा से हिंसा के मार्ग को अपना लेती है। व्यावहारिक तौर पर

स्त्री कितनी भी बड़ी खलनायिका बन जाये किन्तु ममतामयी मूल प्रवृत्ति नहीं छोड़ सकती।

फैशन (2008)

फैशन और ग्लैमर जगत जितना चमचमाता हुआ दिखता है उतना होता नहीं। इस चमचमाहट के पीछे जो अंधियारा छिपा है। वह इतना गहरा है कि किसी और को तो क्या लोग खुद को भी नहीं पहचान पाते। "यह जगह ही ऐसी है कब क्या बदल जाए कुछ पता नहीं चलता।"[86] 'फैशन' फिल्म में सोनाली गुजराल (कंगना रनौत) का यह कथन उस दुनिया के सच को बयां करता है।

2008 में आई फिल्म 'फैशन' का निर्देशन मधुर भंडारकर ने किया है। उनकी विशेषता यह है कि इस प्रकार के बहुतायत मुद्दे उन्होंने चांदनी बार, इंदु सरकार, कैलेंडर गर्ल्स, हिरोइन आदि फिल्मों के माध्यम से सिनेजगत में उठाए हैं। फर्श से अर्श तक अभिनेत्री की यात्रा और उसके व्यक्तित्व के विनाश के कारण बखूबी दिखाए गए हैं।

'फैशन' की नायिका मेघना माथुर (प्रियंका चोपड़ा) छोटे शहर की मध्यवर्गीय लड़की है। मेघना मशहूर सुपरमॉडल बनने के सपने को पूरा करने के लिए अति महत्वाकांक्षा की शिकार हो जाती है। जिसका परिणाम बड़ा दुखद होता है। यह पूछने पर कि तुम मॉडल बनने आई हो? 'वह जवाब देती है, 'जी नहीं सुपरमॉडल।' अपने सपनों के लिए वह किसी भी हद तक जाने को तैयार है। मेघना जैसी तमाम लड़कियां जब यथार्थ से टकराती हैं तो पता चलता है कि सपने और यथार्थ में कितना अंतर है। "तुम इस मॉडलिंग वर्ल्ड को जानती हो, यहां किसी कमजोरी के लिए कोई जगह नहीं।"[87] सिनेजगत की संवेदनहीनता, पूंजीवादी दृष्टिकोण, प्रतिस्पर्धा व महत्वाकांक्षा की होड़ में मनुष्य का मशीनीकरण होता जा रहा है। भारतीय सभ्यता और संस्कृति की बात करें तो हमारे यहां कलाओं का बड़ा महत्व रहा है। उनमें स्त्री भागीदारी की कमी पहले से ही रही है। लेकिन पश्चिमी सभ्यता के प्रभाव ने, जो

[86] फैशन फिल्म ((2008), निर्देशक मधुर भंडारकर ,दृश्य माध्यम, 29/04/2020
[87] वही

बहुत पहले से ही पारसी थियेटर आदि के रूप में व्याप्त था, स्त्री और उसके नजरिए में बड़ा बदलाव किया।

अपनी जड़ों से कटाव और आधुनिकता के नाम पर पुरुषों की बराबरी जैसे शब्दों का सहारा लेकर आज की स्थिति नग्नता और अश्लीलता का पर्याय होती जा रही है

मेघना का सफर न केवल नारी का शारीरिक संघर्ष अपितु उसके अंतर्द्वंद्व को भी अपने में समेटे हुए है। मध्यवर्गीय नारी को किन–किन संघर्षों एवं असुविधाओं का सामना करना पड़ता है, 'फैशन' फिल्म के माध्यम से देखा जा सकता है। शुरुआती दौर में परिवार की सहमति न होना, मुंबई पहुंचकर काम ना मिलना और लगातार रहने–खाने आदि समस्याओं का बढ़ना मेघना से क्या–क्या करा देता है। "यहां सिर्फ हेलो–हेलो बोलने का आगे पीछे डोलने का फोटो में बड़ा स्माइल देने का उसके बाद टाटा बाय–बाय।"[88] यह दिखावटी जीवन जिसमें मानवीय संवेदनाएं धीरे–धीरे समाप्त होने लगती हैं, उसकी निराशा को और बढ़ा देती हैं। जिससे उसके अंदर आत्मविश्वास की कमी होती है और मादक पदार्थों का सेवन उसे गर्त में ले जाता है।

मेघना से पहले मॉडल रही सोनाली कहती है, "शुरू–शुरू में सब अच्छा लगता है। तुम पहचान नहीं पाओगी ना खुद को ना किसी और को।" सोनाली अपने जीवन के प्रति इतनी निराश हो गई है कि वह हर समय नशे में डूबी रहती है और अंततः आत्महत्या कर लेती है। मेघना के साथ जो होने वाला था, सोनाली उसकी भुक्तभोगी थी। जब विवाहित निर्देशक के बच्चे की मां बनने पर मेघना उसको बताती है तो वह कहता है, "बच्चा गिरा दो अभी तुम्हारे सामने पूरा फ्यूचर पड़ा है पागल मत बनो यह कोई बड़ी बात नहीं।"[89]

पितृसत्तात्मक सोच व उसकी जड़ों का फैलाव पूरे देश में व्याप्त है तो उससे सिने जगत कैसे अछूता रह सकता है। दरअसल सिने जगत का एक पहलू भोग भी

[88] फैशन फिल्म ((2008), निर्देशक मधुर भंडारकर ,दृश्य माध्यम, 29/04/2020
[89] वही

है। जहां पर सब एक दूसरे का अपने स्वार्थ के लिए भोग करते हैं चाहे वह अभिनेत्री हो या निर्देशक। सिने जगत में अभिनेत्री को मात्र वस्तु रूप में प्रस्तुत किया जाता है। उसकी अभिनय क्षमता और बुद्धिमत्ता का कोई अर्थ नहीं है। निर्देशक उसे जिस तरह चाहे सजाएं, दिखाएं। डिजाइनर का यह कथन "डार्लिंग यू आर मॉडल अक्ल इस्तेमाल करने की कोई जरूरत नहीं है।"[90]

आधुनिक सिनेमा में स्त्री संदर्भ और सृजन के बीचो–बीच एक खड़ी दिखाई देती है। पश्चिम और बाजारीकरण के प्रभाव ने स्त्री के निजी आत्मबोध पर चोट की है। स्त्री को प्रदर्शन की वस्तु मानकर बाजार व समाज में जिस तरह देख और दिखा रहे हैं, वहां सफलता के सामने नैतिकता, प्यार, चरित्र और मानवता जैसे शब्दों के कोई मायने नहीं। मेघना जैसे–जैसे सफलता की सीढ़ियां चढ़ती जाती है नैतिकता की सीढ़ियां उतरती जाती है। शूटिंग के समय गाउन हटाने से शर्माती लड़की धीरे–धीरे शर्म के सारे परदे हटा देती है। वहीं वाइन को होंठों से लगाते ही मुंह का स्वाद बिगड़ा महसूस करने वाली मेघना वक्त के साथ नशे में ऐसी डूब जाती है कि उसे पता ही नहीं चलता कि पार्टी में किस की बाहों में थिरकती हुई किसके साथ हमबिस्तर हो रही है। जब सुबह होती है तो खुद के चेहरे को आईने में पहचान नहीं पाती और पिता के घर वापस चंडीगढ़ लौट जाती है।

प्रसिद्ध साहित्यकार हजारी प्रसाद द्विवेदी के शब्दों में, "स्त्री के दुःख इतने गंभीर होते हैं कि उसके शब्द उसका दशमांश भी नहीं बता सकते सहानुभूति के द्वारा ही उस मर्म वेदना का किंचित आभास पाया जा सकता है।"[91] यह सहानुभूति मेघना को परिवार से मिलती है। मेघना के पिता का यह कथन आज के बदलते पुरुष और पिता का परिचय देता है, "दौड़ में हार उसकी नहीं होती जो फिसल जाता है। हार उसकी होती है। जो फिसल कर नहीं उठता। मेरी बेटी हारेगी नहीं।" मेघना निराशा से ग्रस्त हार मान कर घर आ जाने पर बहुत दुखी रहने लगती है। इस संदर्भ में लेखिका कत्यायनी कहती हैं, अब इतनी सकत नहीं रही कि दिनभर

[90] फैशन फिल्म ((2008), निर्देशक मधुर भंडारकर ,दृश्य माध्यम, 29/04/2020
[91] वही

मुस्करा सकूं, अदाएं दिखा सकूं, निर्माता–निर्देशकों को रिझा सकूं या दूरदर्शन पर सौंदर्य प्रसाधनों का विज्ञापन कर सकूं।

वर्तमान परिस्थितियों में सिने जगत में भी बदलाव आया है। कठिन परिश्रम और धैर्य से आज की महिलाएं आर्थिक, सामाजिक, राजनीतिक सभी क्षेत्रों में सफलता का परचम लहरा रही हैं। विश्व भर का ध्यान उनकी ओर आकर्षित हो रहा है। ऐश्वर्या राय, माधुरी दीक्षित, कंगना रनौत, दीपिका पादुकोण, भूमि पडेनकर, आलिया भट्ट, तापसी पन्नू, प्रियंका चोपड़ा आदि की सफलता से अंदाजा लगाया जा सकता है।

आज के समय में अभिनेत्रियां अपनी इच्छानुसार अभिनय व अपनी बात को रखने, निर्णय लेने जैसी स्थिति में धीरे–धीरे आ रही हैं। फैशन फिल्म एक संदेश है उन सभी स्त्रियों के लिए जो महत्वाकांक्षा से ग्रसित होती जा रही हैं। अपने वर्तमान व भविष्य के प्रति धैर्य का अभाव उन्हें दलदल में ले जाता है। इसके अतिरिक्त हिरोइन, द डर्टी पिक्चर, मिस लवली, चांदनी बार, बॉम्बे टॉकीज, कैलेंडर गर्ल्स आदि के माध्यम से अति महत्वाकांक्षा के परिणामों को सिने जगत ने समाज के समक्ष प्रस्तुत करने के सफल प्रयास किए हैं। ऐसा ही एक बहुत अच्छा प्रयास हिंदी साहित्य में सुरेंद्र वर्मा ने अपने प्रसिद्ध उपन्यास **'मुझे चांद चाहिए' (1993)** में किया था। यह उपन्यास हमारे सामने एक स्त्री की मनोदशा, उसके आंदोलन, सपने, ऊंची उड़ान की आकांक्षाएं मुख्य नायिका वर्षा वशिष्ठ के माध्यम से दिखाई पड़ती हैं। साहित्य व सिनेमा निरंतर जीवन के प्रत्येक पहलू से परिचित कराते आए हैं। 'फैशन' फिल्म में प्रियंका चोपड़ा और कंगना रनौत का अभिनय दर्शकों को अंत तक बांधे रखता है। संगीत व तकनीकी माध्यमों से एक पल के लिए भी ऐसा नहीं लगता कि हम उस स्थान पर उपस्थित नहीं हैं।

कहानी के साथ दर्शकों का चलना ही साधारणीकरण के द्वारा सफल कृति व फिल्म की सफलता होती है। सिनेजगत अशिक्षित व शिक्षित प्रत्येक वर्ग को प्रभावित करता है। 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा ने अपनी पहुँच प्रत्येक विषय, वर्ग, समूह और समाज तक बना ली है। जिसके द्वारा हम एक स्थान पर बैठे ही वैश्विक भ्रमण कर

सकते हैं। ग्लोबल विलेज की अवधारणा को सार्थक करने में हिंदी सिनेमा अपनी अहं भूमिका निभा रहा है।

पिंक (2016)

सन् 2016 में अनिरुद्ध राय चौधरी के निर्देशन में आई फिल्म 'पिंक' समाज व सिनेमा में स्त्री के बदलते रंग–रूप, वेशभूषा, रहन–सहन, जीवनशैली, निर्णय क्षमता, अधिकारों की मांग व रूढ़िवादी सोच के प्रति उठती आवाज का हिस्सा है। नारी अब अबला व सुकोमल नहीं रही। बड़े–बड़े संघर्षों, चुनौतियों और संकटों में उसकी रचनात्मकता तथा शक्तिरूपा छवि अब विशेष रूप से उजागर होने लगी है। ऐसी ही तीन आधुनिक जीवन जीने वाली लड़कियां मीनल (तापसी पन्नू), फलक (कीर्ति कुल्हारी), एंड्रिया (एंड्रिया) की ये कहानी है जो दिल्ली में किराए के रूम में एक साथ रहती हैं। एक दिन तीनों एक दोस्त के घर रॉक पार्टी में जाती हैं। उस दौरान उनके साथ लड़के, जो उनके दोस्त थे, जबरदस्ती करने की कोशिश करते हैं। फिल्म की मुख्य नायिका मीनल (तापसी पन्नू) बीच–बचाव में बीयर की बोतल एक राजनेता के बेटे राजवीर सिंह (अंगद बेदी) के सिर पर मार देती है। जिससे उसके माथे व आंख पर गंभीर चोट आती है। उसके बाद की कहानी राजवीर का बदला और उससे बचने की लड़कियों की जद्दोजहद में एक कोर्टरूम ड्रामा के रूप में चलती रहती है।

दरअसल राजवीर के सिर पर वह मार एक स्त्री द्वारा ना कहने व बदला लेने पर आधारित है। यह लड़ाई उच्च वर्ग के नायक व मध्य वर्ग की नायिका के बीच है। जो हमेशा से डरा धमका कर चुप करा दी जाती हैं। जैसे मीनल को बार–बार डराया जाता है। यहां तक कि जहां वह रहती है उसके मकान मालिक को भी धमकियां देकर उन्हें घर से निकालने के लिए कहा जाता है। राजवीर के दोस्त कहते हैं "अंकल जी उन्हें निकाल कर बाहर करो वह लड़कियां वैसी हैं वह लड़कियां ठीक नहीं।"[92] यहां पर इस वैसी से तात्पर्य चरित्रहीन होने से है। जिसका निर्धारण समाज लड़कियों के खुले में हंसने, बात करने, पार्टी में छोटे कपड़े पहनने, नौकरी

[92] पिंक फिल्म, (2016), निर्देशक अनिरुद्ध राय चौधरी, दृश्य माध्यम, 15/03/2020

करने, बराबरी का भाव रखना, शराब पीना, आत्मविश्वास से परिपूर्ण होने आदि को ध्यान में रखकर, पितृसत्तात्मक सोच का पालन करते हुए उनका नामकरण कॉल गर्ल, कुलटा, धंधा करने वाली, वेश्या आदि करता है। राजवीर के सिर पर लगी चोट उसके अहं को इतना आहत करती है कि वह अपने मित्रों के साथ मीनल का बलात्कार कर देता है। पहले से ही मिल रही धमकियों की जानकारी जब मीनल पुलिस को देती है तो पुलिस का यह कहना "धमकी गाली क्या चीज है मैम, फ्री की है ले लो। रिपोर्ट तो मैं लिख लूंगा लेकिन मैडम वह लड़के ऐसे गंदे थे तो आप वहां गए ही क्यों? आप खुद वहां कमरे में गए। दारू पी। मस्ती की। खुद की मर्जी से ही तो आप वहां गए। आपको वे लड़के जबरदस्ती थोड़ी ना ले गए थे। अब यह बिंदी वाले मोर्चा लेकर आएंगे। मोमबत्तियां जलाएंगे और कहेंगे कि शहर में लड़कियां सेफ नहीं हैं। इसमें पुलिस की क्या गलती थी?"[93] संवाद के माध्यम से भारतीय प्रशासन का राजनेताओं के दबाव के कारण स्त्री मुद्दों पर ढीलापन दिखाई पड़ता है। जिसका अगला पड़ाव बलात्कार सामने आता है लेकिन फिर भी मीनल की रिपोर्ट को नजरअंदाज कर राजनैतिक दबाव के कारण राजवीर पर जानलेवा हमले के केस में मीनल को ही गिरफ्तार कर पुलिस झूठी गवाही भी देती है। तो वहीं फिल्म का सर्वाधिक सशक्त पात्र वकील दीपक सहगल (अमिताभ बच्चन) लड़कियों को न्याय दिलाने का कार्य करते हैं।

उस कोर्ट रूम में तमाम ऐसे प्रश्नों से घिरी स्त्री फिल्म **'दामिनी' (1993), 'नो वन किल्ड जेसिका' (2011)** की याद दिलाती है। स्त्री सदियों से कठघरे में रही है। चाहे वह सम्मान की बात हो या न्याय की। वर्तमान सिनेमा ने नारी के कई रूपों के माध्यम से समाज में स्त्री सशक्तीकरण की मुहिम को बढ़ावा दिया है। याद आता है सिनेमा का वह दौर का जब 1940 में महबूब खान की फिल्म 'औरत' को 'ए' वर्ग मतलब एडल्ट फिल्म घोषित कर सूचना व प्रसारण मंत्रालय ने (जिसे 1951 में 'सेंसर बोर्ड' का नाम दिया गया) रिलीज होने पर रोक लगा दी थी। वजह यह थी कि उसमें नायिका बिना दुपट्टे के परदे पर दिखाई गई थी।

[93]पिंक फिल्म, (2016), निर्देशक अनिरुद्ध राय चौधरी, दृश्य माध्यम, 15/03/2020

हम आज 80 साल बाद उस घटना से अपने सिनेमा के विकास का अंदाजा लगा सकते हैं। आज **'पिंक'** जैसी फिल्मों में ऐसे प्रश्न उठाए जाते है। जो समाज को एक नई सोच विकसित करने में सहायक है। कोर्ट रूम में दीपक सहगल द्वारा मीनल से यह पूछना **"क्या आप वर्जिन हैं?"**[94] ऐसा सवाल हिंदी सिनेमा में जिस मुखरता व संवेदना के साथ पूछा गया है वह बहुत कम ही दिखाई देता है। वर्जिनिटी को लेकर जिस तरह की मानसिकता का निर्माण किया गया है कि प्रेम व विवाह से पहले प्रत्येक पुरुष के मन–मस्तिष्क में यह सवाल घूमता रहता है कि उसकी प्रेमिका–पत्नी वर्जिन है कि नहीं। जिसके कारण आज समाज में कम उम्र में हो रहे बलात्कार व अपहरण कर देह व्यापार का कारोबार को बढ़ावा मिल रहा है। 'पिंक' उन सभी सवालों का करारा जवाब है। जब मीनल यह कहती है कि "नहीं मैं वर्जिन नहीं हूं।"[95] यह जवाब केवल कोर्ट रूम में एक वकील को नहीं दिया गया है बल्कि उस पूरे समाज को दिया गया है जो इसको लेकर कुंठित मानसिकता से ग्रस्त है।

उसने आगे आकर यह भी स्वीकार किया "कि मैंने अपने और भी संबंध बनाए लेकिन अपनी इच्छा से व अपनी सहमति से संवेदना से भावनाओं से ना कि किसी जोर–जबर्दस्ती से।"[96] पूछताछ के दौरान जब मीनल से पूछा गया कि उसने राजवीर को क्यों मारा, तब वह निडर होकर कहती है "ना कहा था मैंने सर लेकिन फिर भी यह मुझे छुये जा रहा था। गुस्सा आ गया मुझे। करना नहीं चाहती थी पर यह छोड़ ही नहीं रहा था। बोतल मारनी पड़ी दोबारा करेगा ना तो सिर पर मारूंगी इसके मैं।"[97] ये संवाद हमारे समाज में स्त्री पर हो रहे शोषण, यौन हिंसा, उत्पीड़न के खिलाफ आवाज उठाने का साहस देता है।

यह फिल्म पुरुष पात्र के माध्यम से भी कुछ मजबूत व तार्किक प्रश्नों को समाज के सम्मुख रखती है जिसमें स्त्रियों के रहन–सहन व पहनावे को लेकर जींस पहनना टी शर्ट पहनना वगैरह वगैरह लड़कियों को नहीं करना चाहिए। इसमें इनका

---

[94] पिंक फिल्म, (2016), निर्देशक अनिरुद्ध राय चौधरी, दृश्य माध्यम, 15/03/2020
[95] वही
[96] वही
[97] वही

तो कुछ नहीं बिगड़ता है। लेकिन लड़के जो है उन को खतरा हो जाता है। बेचारे लड़के उत्तेजित हो जाते हैं। इन्हें देखकर और विदाउट एनी पार्ट ऑफ दिस गलती कर देते हैं। ऐसी सोच कुछ भारतीय राजनेताओं की भी है जिनका मानना है कि युवा है गर्म खून, गलतियां हो जाती हैं। इन गलतियों की भरपाई औरत ने मध्य काल से वर्तमान तक की है। वही दूसरा प्रश्न "हमारे यहां घड़ी की सुई लड़की का कैरेक्टर डिसाइड करती है। रात को लड़कियां जब सड़क पर अकेली जाती हैं, तो गाड़ियां स्लो हो जाती हैं। और शीशे नीचे हो जाते हैं। दिन में यह महान विचार किसी को नहीं आता।"[98]

रात को देर से घर व कमरे पर पहुंचने वाली लड़कियों को चरित्रहीन माना जाता है। कुछ लोगों का तो यहां तक मानना है कि अच्छे घर की अच्छी लड़कियां देर रात बाहर नहीं रहती। यह सभी नियम–कानून केवल स्त्री के हिस्से में आते रहे हैं। 'पिंक' फिल्म इन सब को तोड़ती हुई दोहरे मापदंड का विरोध करती है और समाज को सीख देती है "आज तक हम सब लोग एक गलत डायरेक्शन में एफर्ट करते रहे हैं। हमें अपने लड़कों को बचाना चाहिए ना कि लड़कियों को क्योंकि अगर हम लड़कों को सुधारेंगे तो लड़कियां अपने आप सुरक्षित हो जाएंगी।"[99] वकील दीपक सहगल के माध्यम से कोर्ट रूम में यह संवाद समाज को एक बड़ी सीख देता है। घर परिवार में अधिक लाड़ प्यार व वारिस माने जाने के कारण लड़कों का बचपन से ही ऐसा विकास करते हैं कि आने वाले समय में उनका अहं, संकीर्ण मानसिकता, उनके धैर्य, सोच को संकुचित कर देता है। जो आगे चलकर विकृत मानसिकता का रूप धारण कर लेता है। हमें इसे रोकने के लिए बचपन से ही शारीरिक विकास के साथ मानसिक विकास को भी उतना ही महत्व देना चाहिए।

"जिससे उन्हें यह समझ में आए कि ना का मतलब ना होता है। उसे बोलने वाली लड़की कोई परिचित हो, दोस्त हो, गर्लफ्रेंड हो, कोई सेक्स वर्कर हो या आपकी अपनी पत्नी ही क्यों ना हो ना मतलब ना जब कोई ना कहे तो रुक

[98] पिंक फिल्म, (2016), निर्देशक अनिरुद्ध राय चौधरी, दृश्य माध्यम, 15/03/2020
[99] वही

जाओ।"[100] इसी 'ना' के खिलाफ संघर्ष करती मीनल की अंत में जीत होती है। मीनल का किरदार निभा रही तापसी यह सिद्ध करती है कि आज की स्त्री खेल, नौकरी, रंगमंच, अभिनय किसी कार्य को भी करने में सक्षम है। 'पिंक' हिंदी सिनेमा व समाज में नए ढंग का हस्तक्षेप है। जिसकी भाषा, पटकथा, अभिनय, निर्देशन व संगीत सभी कहानी को बखूबी पर्दे पर उतारते हैं। 'पिंक' जैसी फिल्में स्त्री चेतना के स्वर व समाज में उसकी सहभागिता को बढ़ाने के साथ–साथ समाज को नया व लचीला दृष्टिकोण देने का कार्य भी करती हैं।

थप्पड़ (2020)

(बस इतनी सी बात)

सामाजिक मुद्दों पर आधारित घटना प्रधान फिल्मों के निर्देशक के रूप में चर्चित अनुभव सिन्हा की 'मुल्क' और 'आर्टिकल 15' के बाद **'थप्पड़' (2020)** तीसरी ऐसी स्त्री चरित्र प्रधान फिल्म है। इसके लिए निर्देशक ने अपने नाम के साथ माता का नाम जोड़कर **'अनुभव सुशीला सिन्हा'** कर दिया था। घरेलू वैवाहिक जीवन के साथ–साथ कामकाजी महिला के समक्ष आती चुनौतियों को भी 'थप्पड़' फिल्म के माध्यम से दिखाया गया है। भारत विभिन्न धर्मों व वर्गों में बँटा देश है। इस कारण इसमें व्याप्त कुरीतियों व नियम–कानूनों की रूपरेखा भी बदलती रहती है। 'थप्पड़' फिल्म में सभी वर्गों (उच्च, मध्य व निम्न वर्ग) के शोषण का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप दिखाया गया है।

समाज के साथ सिनेमा में भी प्रत्येक दशक में नारी रूप में बदलाव आया है। 1931 में 'आलमआरा', 1936 में 'अछूत कन्या' और 1957 में 'मदर इंडिया' जैसी फिल्में इस बात को प्रमाणित करती हैं। फिल्म 'थप्पड़' शारीरिक चोट की नहीं बल्कि आत्मसम्मान पर लगी चोट की कहानी है। पितृसत्तात्मक सामाजिक संरचना में थप्पड़ को सामान्य बात माना जाता है। किंतु फिल्म में विशेष बात मानकर पुरुष को अपनी गलती स्वीकार कर बदलाव का संकेत दिया गया है।

[100] पिंक फिल्म, (2016), निर्देशक अनिरुद्ध राय चौधरी, दृश्य माध्यम, 15/03/2020

यह पटकथा एक विवाहित जोड़े अमृता (तापसी पन्नू) और विक्रम (पावेल गुलाटी) के जीवन में आते उतार–चढ़ाव को दिखाती है। अमृता एक घरेलू स्त्री है। जिसके लिए अपने पति की सफलता ही उसकी सफलता है। उसके जीवन का अस्तित्व पति से शुरू होकर पति पर ही खत्म होता है। यह भारत के लगभग 80 प्रतिशत परिवारों की स्थिति है। जब पुरुष कामकाजी जीवन जीता है तो महिला उसके प्रति समर्पित खड़ी रहती है। वहीं अगर स्त्री कामकाजी होती है तो वह ऑफिस या बाहर के काम के साथ घर का भी कार्य उसी निष्ठा के साथ करती है। इस प्रकार वह दोहरे बोझ के नीचे दबी रहती है। विक्रम अपनी कामयाबी की पार्टी के दौरान जब यह सुनता है कि उसको मनचाहे पद से हटा दिया गया है तो वह बहुत आक्रोश में आकर अपने अहंवादी स्वभाव के चलते अमृता को भरी सभा में एक थप्पड़ मार देता है। जिससे कुछ पल के लिए सभी क्रियाएं रुक जाती हैं। अमृता दुःखी और निराशा हो जाती है। पति को अपनी गलती का एहसास ना होना, उसके आत्मविश्वास पर भी गहरी चोट साबित होता है। जो तलाक का रूप ले लेता है। फिल्म में स्त्री पर होने वाले अत्याचार के विभिन्न रूप सामने आते है। चाहे वह उच्च वर्ग का प्रतिनिधित्व कर रही महिला वकील हो जो बार–बार इतनी कामयाबी के बावजूद भी पति से अपमानित होती है। ध्यान देने की बात यह है। कि वह महिलाओं के अधिकारों की वकील जरूर है लेकिन अपने अधिकारों के प्रति उदासीन है। यह उसके चरित्र का विरोधाभास है।

'थप्पड़' (2020) फिल्म मात्र आधुनिक पटकथा नहीं वरन सदियों से पितृसत्तात्मक सोच द्वारा नारी के अपमान की गाथा है। तीसरी महिला पात्र निम्न वर्ग की प्रतिनिधि नौकरानी है। जो अपने बेरोजगार पति के लिए पैसे भी कमाती है। घर आने पर रोज उसकी मार भी खाती है। आश्चर्यजनक बात तो यह है कि अब उसे इसकी आदत हो गई है। इसके अतिरिक्त अमृता की सास जो पति से अच्छे संबंध न होने पर बेटे विक्रम के साथ रहती हैं वह भी उत्पीड़न की शिकार है। फिल्म में एक कामकाजी महिला शिवानी पति के छोड़ने के बाद अकेली अपनी बेटी का पालन–पोषण कर करती है। इन सभी पात्रों की समस्याएं हमारे समाज का ही हिस्सा हैं। जो हमें या तो दिखाई नहीं देतीं या हम देख कर भी अनदेखा कर देते हैं।

"थप्पड़ सिर्फ वह नहीं जो चेहरे पर आकर लगता है थप्पड़ हर वह शब्द है जो आत्मसम्मान पर हमला करता है।"[101] वैवाहिक जीवन की नींव प्रेम व सम्मान पर टिकी होती है। शारीरिक चोट से बड़ा मानसिक आघात होता है जो हर पल आत्मा को कचोटता रहता है। वही अमृता के साथ होता है। वह कहती है, उस एक थप्पड़ से मुझे वह सारी अनफेयर चीजें साफ–साफ दिखने लगीं जिन्हें मैं अनदेखा करके मूव ऑन करती जा रही थी। यह अनदेखा करने की सीख लड़कियों को बचपन से ही दी जाती है। 'पति का घर ही उसका असली घर होता है', छोटे–मोटे झगड़े चलते रहते हैंश आदि शब्दों के माध्यम से उसके व्यक्तित्व का विकास होता आ रहा है। 'थप्पड़' जैसी फिल्में इस मिथक को तोड़ने का कार्य करती हैं। समाज को आईना दिखाती हैं। थप्पड़ लगने के बाद अमृता की सास का कहना **"जाने दे बेटा थोड़ा बर्दाश्त करना सीखना चाहिए औरतों को।"** स्पष्ट करता है कि हमारे समाज में औरतों का आदर्श रूप स्थापित करने के लिए उन्हें क्या सिखाया जाता है।

इस संदर्भ में विश्वविख्यात लेखिका सीमोन द बाउआ लिखती हैं, स्त्री पैदा नहीं होती बनायी जाती है। यहां पर बनाने से तात्पर्य वर्षों से चले आ रहे पितृसत्तात्मक समाज व उसकी सोच में दबी स्त्री, स्वतंत्रता व अधिकारों के स्वर, सब कुछ बर्दाश्त करने की शैली का निर्माण आदि आते हैं। जहां पर पुरुष के अहं व स्त्री के आत्मसम्मान के बीच तकरार होती आई है। लेकिन आज हम 21वीं सदी के दूसरे दशक में हैं। जहां स्त्री अबला, बेचारी, कायर और कमजोर नहीं है वह अपने निर्णय लेने की क्षमता रखती है।

थप्पड़ के बाद पति का गलती स्वीकार कर माफी न मांगने के कारण अमृता निर्णय लेती है कि अब वह इस घर में नहीं रहेगी। वह अपने पिता के घर चली जाती है। मन में तमाम प्रश्न होने पर पापा से पूछती है "क्या वह सही कर रही है?" पिता जवाब देते हैं, "हम तो हमेशा सही सोच कर करते हैं बेटा पर कई बार सही करने का रिजल्ट हैप्पी नहीं होता।"[102] तब वह तलाक का निर्णय लेती है और एक महिला वकील के पास जाती है। वकील पूछती है, "तुम घर क्यों नहीं जाना

[101] थप्पड़ फिल्म, (2020), निर्देशक अनुभव सिन्हा ,दृश्य माध्यम, 20/04/2020
[102] वही

चाहती? सच क्या है, उसके परिवार से दिक्कत है? उसका कोई अफेयर चल रहा है? आपका कोई अफेयर चल रहा है? तो सिर्फ एक थप्पड़!"[103] मतलब यह है कि गांव, कस्बा, शहर, शिक्षित, अशिक्षित लोगों को तो छोड़िए एक वकील को भी विश्वास नहीं होता कि कोई औरत सिर्फ एक थप्पड़ के चलते अपना घर व पति छोड़कर चली आई है। अमृता जवाब देती है, हां सिर्फ एक थप्पड़, लेकिन नहीं मार सकता। यह वाक्य अमृता और हजारों महिलाओं को आगे बढ़ने और शोषण के खिलाफ आवाज उठाने के लिए प्रेरित करता है। वह कहती है, जोड़ के रखनी पड़े कोई चीज तो मतलब वो टूटी हुई है। पति–पत्नी का रिश्ता प्रेम, विश्वास और समर्पण पर टिका होता है। लेकिन जब यह सब समाप्त होने लगता है तो बना हुआ घर भी मिट्टी का ढेर हो जाता है। "रिश्ते बनाने में इतनी मेहनत नहीं लगती जितनी निभाने में लगती है।" शिवानी (दीया मिर्जा) का अमृता से यह संवाद रिश्तों को निभाने में जीवन साथियों की जिम्मेदारी की पुष्टि करता है। शिवानी अकेली होने के बावजूद भी अपनी बेटी को हर खुशी देना चाहती है। उसके स्वतंत्र व्यक्तित्व को देखकर विक्रम अमृता से कहता है, "अमृता इसने नई गाड़ी ली है ना, करती क्या है ये?"[104] यह व्यंग्यात्मक भाषा उसकी सोच को प्रकट करती है। जिससे उसके विक्रम के चरित्र का पता चलता है।

आज भी हमारे समाज में पुरुषों की जीवन शैली, पितृसत्तात्मक सोच व सामाजिक ढांचे में सुधार नहीं हो पाया है। इसे सन् 2019 में आयी 'कबीर सिंह' फिल्म की सर्वाधिक कमाई से समझा जा सकता है। तमाम गंभीर मुद्दों पर बनी फिल्मों 'मुल्क', 'बदला' और श्मणिकर्णिकाश की कमाई 'कबीर सिंह' फिल्म की तुलना में कम रही। **'कबीर सिंह'** फिल्म में कबीर लड़की को थप्पड़ मारता है।लड़की उसे सामान्य बात मानकर उसके पीछे जाती है।ये घटनाएं स्त्री के आत्म सम्मान पर प्रश्नचिह्न लगाती हैं।

वहीं 'थप्पड़' फिल्म में एक थप्पड़ के लिए घर छोड़ तलाक तक का सफर तय करने वाली अमृता का संघर्ष समाज में स्त्री चेतना के स्वर को बढ़ाता है। यह दर्शकों

[103] थप्पड़ फिल्म, (2020), निर्देशक अनुभव सिन्हा ,दृश्य माध्यम, 20/04/2020
[104] वही

पर भी निर्भर करता है कि वह सिनेमा को किस ओर ले जाना चाहता है। दर्शकों का चुनाव क्या है? और क्यों ? 'थप्पड़' फिल्म की पटकथा, संवाद, भाषाशैली और अभिनय सभी बेजोड़ हैं।यह समाज में एक बड़े सुधार की माँग पैदा करती है।

अंत में यह कह सकते हैं कि भारत में महिला सुरक्षा का मुद्दा हमेशा से ही चिंता का विषय रहा है। समय–समय पर महिलाओं के साथ होने वाले जघन्य अपराध आम जनमानस को जगाते रहे हैं। भारत में जब बात सुरक्षा की आती है तो यह समझना जरूरी है कि सुरक्षा क्या है? आदिम समाज में मनुष्य को यह खतरा था कि कोई भी उसे नुकसान पहुंचा सकता है। चाहे वह मनुष्य हो या जानवर। लेकिन सभ्यता के विकास के साथ समाज परिपक्व होता गया और लोग इस खतरे से मुक्त होने लगे। सरल शब्दों में कहें तो सुरक्षा एक ऐसी परिस्थिति है जिसमें एक व्यक्ति भयमुक्त और संकोच रहित होकर अपने व्यक्तित्व का विकास कर गरिमामय व सहज जीवन जी सके। यह इतना आसान नहीं है। भारत में कई राज्य आज भी ऐसे हैं जहां स्त्रियों की स्थिति में सुधार की अधिक आवश्यकता है।

उपसंहार

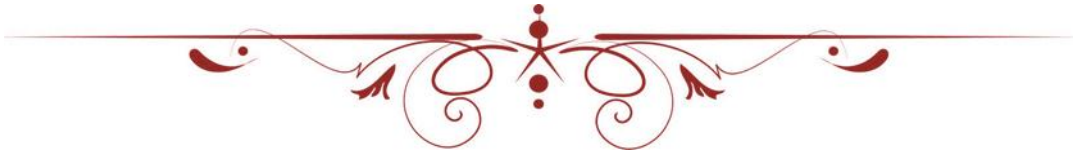

उपसंहार

मूक फिल्मों के समय से थ्री डी फिल्मों तक की तकनीक आदि सब कुछ बदला गया है। कहानी, पात्र, भाषा, संगीत के सुर और शब्द सभी में बदलाव आया है तो उससे कहीं ज्यादा परिमार्जित और परिवर्धित भी हुआ है। यह समय समृद्ध सिनेमा का समय है। एक समय था, जब फिल्मों में काम करने वालों को खासकर महिलाओं को दोयम दर्जे का समझा जाता था। लेकिन आज यह प्रतिष्ठित स्थान है। ग्लैमर जगत युवाओं को आकर्षित करता है और माता–पिता सहजता से स्वीकृति दे रहे हैं। पुराने दौर में फिल्मों का उद्देश्य मात्र धन अर्जित करना नहीं था। बल्कि सांस्कृतिक, ऐतिहासिक, राजनैतिक, आध्यत्मिक, सामाजिक, नारी जीवन और मजदूर व किसान वर्ग के हर पहलू को छू कर मानव ह्रदय तल तक पहुँचना था। साहित्यकार और फिल्मों का सम्बन्ध जब से छूटने लगा तब से फिल्मी गीतों में कुरूपता नजर आने लगी। धीरे–धीरे फिल्मों का व्यापारीकरण होने लगा और प्रतियोगिता की होड़ के कारण फिल्मी गीतों से साहित्य पिछड़ने लगा। साहित्यकार कला–पक्ष को दरकिनार करके लिखना कभी नहीं स्वीकारता। इसलिए विषय–वस्तु और गीतों का सौन्दर्य धूमिल होता गया। साहित्यकार हमेशा सामयिक विषयों का चयन करके अपनी कृति में रंग भरता है। कवि एवं लेखक सदा समाज में फैले आडम्बरों, सामाजिक समस्याओं व जमीनी मुद्दों को अपनी आवाज बनाते आए हैं। आरम्भ में फिल्मकारों ने भी मानव की नब्ज टटोलते हुए, महँगाई, जमीन अधिग्रहण, नारी जीवन, बेरोजगारी, राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक मुद्दों पर अनेक फिल्में बनाई।

हिंदी सिनेमा की अवधारणा को प्रस्तुत करती हुई हिंदी सिनेमा के इतिहास की विकास यात्रा को विभिन्न बिंदुओं में बांटकर अध्ययन किया गया है। सिनेमा भारतीय नाट्यशास्त्र एवं रंगमंच के माध्यम से समाज में पहले से ही व्याप्त था। परंतु उसका स्वरूप प्रत्येक दशक बदलता रहा है। 28 दिसंबर 1895 विश्व इतिहास का एक अत्यंत महत्वपूर्ण दिन है। यह विशेष रूप से सिनेमा प्रेमियों के लिए यादगार

दिन है। इसी दिन पेरिस की ग्रैंड कैफे हाउस में आमंत्रित मेहमानों के बीच ल्यूमियर ब्रदर्स ने पहली बार 'सिनेमैटोग्राफ' का प्रदर्शन किया था। इसके बाद विश्व के विभिन्न देशों में सिनेमा ने अपना विस्तार किया।

जिसका प्रभाव भारत में 3 मई 1913 में दिखाई पड़ा। भारतीय सिनेमा की पहली फिल्म राजा हरिश्चंद्र दादा साहेब फाल्के द्वारा 1913 में ही बनाई गई थी। 'बाम्बे क्रॉनिकल' अखबार में 5 मई को राजा हरिश्चंद्र फिल्म की समीक्षा छपी। इस समय फिल्मों के निर्माण के लिए छोटी–छोटी कंपनियां एवं स्टूडियों के अलावा बड़ी–बड़ी कुछ ऐसी कंपनियां और स्टूडियों भी सिनेमा के निर्माण में संलग्न थीं। जिनसे भारतीय सिनेमा को काफी लाभ प्राप्त हुआ।

1913 से 1930 तक मूक सिनेमा के बाद सन् 1931 ईसवी में बनी आलम आरा फिल्म के निर्देशन से बोलती फिल्मों का युग शुरू हुआ। इस फिल्म के निर्देशक व निर्माता अर्देशिर ईरानी थे। सवाक दौर सिनेमा–काल में सामाजिक चेतना, सामाजिक सरोकारों के प्रति–आस्था, अभिनय की नवीन उपलब्धियों के साथ–साथ गीत–संगीत की समृद्ध परंपरा के साथ विशिष्ट पहचान के रूप में जाना जाता है। इस दौर की उपलब्धियां यह थी कि इसमें लोकप्रिय मधुर संगीत और नई पीढ़ी के अभिनेता–अभिनेत्रियों का उदय जिन्होंने अपने सशक्त अभिनय से खास मुकाम बनाया। इनमें खासकर अशोक कुमार, दिलीप कुमार, राज कपूर, देवानंद, जुबेदा दुर्गा खोटे, पदमा देवी और मनोरमा आदि है।

भारत में जब सिनेमा का उदय हुआ तो यह भारत के उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम तक फैलता चला गया। हिंदी सिनेमा की बात करते समय भारतीय सिनेमा को दरकिनार नहीं किया जा सकता। क्योंकि हिंदी सिनेमा में भारतीय सिनेमा का अहम योगदान रहा है। भारत के विभिन्न हिस्सों से आने वाले निर्देशकों ने हिंदी सिनेमा को समृद्ध किया है। उसमें दादा साहब फालके, विमल राय, सत्यजीत रे आदि नामों को शामिल किया जा सकता है। भारतीय सिनेमा का अधिक विस्तार बांग्ला सिनेमा दिखाई देता है। बांग्ला सिनेमा की एक खास बात यह है कि वहां पर सिनेमा और साहित्य का अंतर्संबंध बहुत करीब रहा है। शरतचंद्र चट्टोपाध्याय की

'देवदास' और **'परिणिता'** आदि साहित्यिक कृतियों पर अनेक बार फिल्में बनाई गई हैं।

वहीं अगर देखे तो दक्षिण भारत में भी सिनेमा का अच्छा विकास हुआ है। चेन्नई मुख्य सिटी है। केरल, तमिलनाडु कर्नाटक और आंध्र प्रदेश में भारतीय सिनेमा का अधिक विस्तार है। दक्षिण भारत में सिनेमा के लिए एक बात बहुत प्रचलित है, जब वहां कोई फिल्म रिलीज होती है तो खून बेचने वालों की संख्या में बढ़ोतरी हो जाती है। इस बात से अंदाजा लगाया जा सकता है कि वहां के लोगों में सिनेमा के प्रति कितनी रुचि है। तेलुगू कवि पट्टभी रामरेड्डी के निर्देशन में बनी 'संस्कार' यू० आर० अनंतमूर्ति के उपन्यास पर आधारित थी। गिरीश कार्नाड इस फिल्म के पटकथा लेखक और नायक दोनों थे। 'संस्कार' ने दक्षिण भारतीय सिनेमा को नए संस्कार दिए। यह गहरी साहित्यिक संवेदना और सामाजिक यथार्थ से परिपूर्ण, कन्नड़ सिनेमा में अपनी जिम्मेदारी थी।

21वीं सदी के दो दशकों में आई फिल्मों का विश्लेषणात्मक अध्ययन किया गया है। तथा उनको सामाजिक, राजनीतिक, ऐतिहासिक और साहित्यिक वर्गों में बांटा गया है। हिंदी सिनेमा को भारतीय समाज का आईना कहा जाता है। समाज और साहित्य के बिना सिनेमा की कल्पना निरर्थक है। सिनेमा समय–समय पर राजनीति से भी प्रभावित रहा है। साहित्य और समाज एक दूसरे के पूरक हैं। सिनेमा में दो तरह की कहानियां प्रचलित हैं। पहली तो यह कि सिनेमा समाज से ही कहानी लेकर परिवर्तन की मांग करता है और दूसरी अपनी कहानी के माध्यम से समाज में कुरीतियों एवं प्रथाओं के पतन हेतु जनता को जागरूक करता है। लघु शोध में इस अध्याय को रखने का उद्देश्य सिनेमा के चहुँमुखी विकास की पड़ताल करना है। किस प्रकार सिनेमा में सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक, धार्मिक और साहित्यिक विषय–वस्तु पर आधारित फिल्में बनाई जा रही हैं। यह कहना कोई अतिशयोक्ति नहीं कि बीसवीं सदी की तुलना में 21वीं सदी के हिंदी सिनेमा में बहुत बदलाव आए हैं। 21वीं सदी का सिनेमा बाजारवाद, भूमंडलीकरण, पश्चिमीकरण और वैश्वीकरण से भी प्रभावित है। वर्तमान समय में तकनीकी ने बहुत विस्तार किया है। अब फिल्म की शूटिंग के लिए गांव और देहात में जाने की आवश्यकता नहीं एक स्थान पर बैठे–बैठे किसी भी

प्रकार की फिल्म को तैयार किया जा सकता है। एक तरह से यह ग्रामीण एवं प्रकृति–चित्रणों का ह्रास भी है। 21वीं सदी में लगान, बागवान, देवदास, पिंजर, चक्रव्यूह, गुलाल, धर्म, गजनी, तलाश, अलीगढ़, स्वदेश, रेड, पति पत्नी और वो, दूरदर्शन आदि फिल्मों के माध्यम से समाज को सचेत करने का कार्य किया है।

21वीं सदी के प्रथम दशक में स्त्री–समस्या केंद्रित फिल्मों का निर्माण कम हुआ। दरअसल अधिकतर हिंदी फिल्मों में स्त्री को आदर्शवादी, ममतामयी माँ, बहन, भाभी, पुत्री, पत्नी और प्रेमिका के रूप में ही अधिक चित्रित किया जाता रहा था। जो विद्रोह भी करती है तो क्षण भर के लिए भावना या विरोध के कारण अंततः समर्पण ही करती आई है। नए लेखक, नयी कहानियां, नए विषय, नए कलाकार अब साहित्य और सिनेमा का हिस्सा बनने के बाद स्त्री रूप में बड़े बदलाव दिखाई पड़ते हैं। 21 वीं सदी की स्त्री निडर भाव, निर्णयन–क्षमता, अधिकारों की मांग, विद्रोही–चरित्र, हिंसा के खिलाफ आवाज उठाना उसने प्रारंभ कर दिया था। प्रथम दशक की महत्वपूर्ण फिल्में– लज्जा, चांदनी–बार, जुबेदा, डोर, फैशन, किरण बेदी आदि के माध्यम से बदलती नारी के स्वरूपों को देखा जा सकता है।

21वीं सदी का दूसरा दशक इस बात का प्रमाण है। 2011 से लेकर 2020 तक हिंदी सिनेमा ने जिस प्रकार के नए मुद्दों को उठाया है उनमें स्त्री छवि को बदल कर रख दिया है। वैश्वीकरण के चलते मुक्त बाजार व्यवस्था ने सिनेमा उद्योग को ऐसी फिल्में बनाने पर जोर दिया है। जो नायिका के परंपरागत छवि को तोड़ती हो। भौतिकवादी आधुनिकता ने महिलाओं को समाज में सशक्त रूप से प्रस्तुत किया है। समाज से प्रेरित होकर सिनेमा भी स्त्रियों की समस्याओं के साथ–साथ उनके मजबूत किरदारों को प्रस्तुत कर रहा है। 21वीं सदी के दूसरे दशक के कुछ महत्वपूर्ण फिल्में– नो वन किल्ड जेसिका, सात खून माफ, तनु वेड्स मनु, कहानी, नीरजा, दंगल, थप्पड़, पंगा आदि हैं।

भारतीय समाज में यौन–हिंसा और उत्पीड़न की समस्या बहुत जटिल रही है। इसको हम लज्जा, लक्ष्मी और छपाक जैसी फिल्मों की समीक्षा के माध्यम से देख सकते हैं। 21वीं सदी के प्रथम चरण (2001) में 'लज्जा' राजकुमार संतोषी द्वारा

निर्देशित एक महत्वपूर्ण फिल्म है। इसमें भारतीय मिथकीय आख्यान रामायण पर यथार्थपरक दृष्टि से विचार करते हुए उसकी वर्तमान प्रासंगिकता व आदर्श हिंदू महिला सीता के चरित्र को आधार बनाकर मुख्य चार महिलाओं वैदेही, मैथिली, जानकी, रामदुलारी की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालने का सफल प्रयास किया गया है।

आंध्र प्रदेश राज्य के गरीब पिता की सुंदर पुत्री लक्ष्मी के वास्तविक जीवन पर आधारित फिल्म **'लक्ष्मी' (2014)** का आधार है स यह मात्र फिल्म नहीं वरन हमारे समाज का एक आईना है जिसमें हम लक्ष्मी जैसी लड़कियों के साथ रोज घटने वाली घटनाओं की सच्ची तस्वीर देख सकते हैं। **'इकबाल' (2005)** और **'डोर' (2006)** के बाद नागेश कुकनूर की लक्ष्मी को बहुत सराहा गया।विशेष बात यह भी है कि उन्होंने अपनी फिल्म में खलनायक की भूमिका अदा कर देह–व्यापार में लिप्त दलालों की गतिविधियों को उभारने का प्रयास किया है। वेश्याओं की मौजूदगी एक ऐसा चिरन्तन सवाल है जिससे समाज हर युग में अपने–अपने ढंग से जूझता रहा है।

'छपाक' (2020) एसिड अटैक सरवाइवर लक्ष्मी अग्रवाल की सच्ची घटना पर आधारित है। एसिड अटैक के बाद सात सर्जरी के बावजूद लक्ष्मी अपने चेहरे की उस सुंदरता के दसवें हिस्से को भी हासिल नहीं कर पाती है, जो एसिड फेंके जाने से पहले थी। मालती कहती है, कितना अच्छा होता एसिड बिकता नहीं तो मिलता भी नहीं तो फेंकता भी नहीं। इसका निर्देशन मेघना गुलजार ने किया था।

वर्तमान समय में स्त्री की स्थिति में सुधार आया है। अब वह अबला से सबला के मार्ग पर अग्रसर है। जिसे मैरी कॉम और सांड़ की आंख फिल्मों की समीक्षा से समझा जा सकता है। मैरीकॉम के जीवन–संघर्ष को अभिनेत्री प्रियंका चोपड़ा ने बहुत ही जीवंत तरीके से निभाया है। फिल्म मैरी कॉम (2014) देखते समय दर्शकों का इस प्रकार साधारणीकरण हो जाता है कि वे प्रियंका चोपड़ा को ही मैरीकॉम मान लेते हैं। यह निर्देशक उमंग कुमार व प्रियंका चोपड़ा की बड़ी सफलता मानी जाती है। मैरीकॉम के माध्यम से हमें एक स्त्री की अपने सपने के प्रति जिद, संघर्ष, व्यक्तिगत व पेशेवर जीवन में लगातार आ रही चुनौतियों का पता चलता है। इन चुनौतियों का

सामना करने में उसके माता–पिता और विशेष रूप से उसके पति का सहयोग समाज की रूढ़िवादी सोच को संवेदनशील बनाने का कार्य करता है।

फिल्म **'सांड़ की आंख' 2019** में तुषार हीरानंदानी के निर्देशन में बनी थी। इसमें तापसी पन्नू (प्रकाशी तोमर) और भूमि पेडनेकर (चंद्रो तोमर) के जोरदार अभिनय से दर्शकों के मनोरंजन के साथ–साथ मार्गदर्शन भी होता है। 'सपने देखने की कोई उम्र नहीं होती' जैसे वाक्यों को सार्थक करती 'सांड़ की आंख' 60 वर्षीया दो महिलाओं के जीवन संघर्ष की कहानी है। यह फिल्म समाज की रूढ़िवादी सोच व लिंग–भेद का विरोध करती है। दादियों का अपने सपनों के प्रति समर्पण आने वाली पीढ़ियों की उन्नति का मार्ग भी सुगम करता है। बागपत के जोहर गांव की यह कहानी तोमर परिवार की बहुओं चंद्रो और प्रकाशी की है। वे अपनी जिंदगी में घर पर खाना पकाने, पति की सेवा, खेत जोतने और भट्ठी में काम करने के बाद भी दुपट्टे के रंग से पहचानी जाती हैं। उनकी पूरी दुनिया घर की दहलीज तक सीमित है। जिसके बाहर निकलना अपराध की सीमा में आता है।

पितृसत्तात्मक सामंती व्यवस्था ने सती प्रथा, पर्दा प्रथा, बाल विवाह, सीमित कार्यक्षेत्र और संपत्ति अधिकारों से वंचित कर स्त्री को पुरुष वासना की तुष्टि का मांसल यंत्र बना दिया है। इसी मांसल यंत्र को तोड़कर निशानेबाजी में मिसाल कायम करती सच्ची कहानी है।

समसामयिक मुद्दों पर आधारित फिल्मों के अंतर्गत फैशन, पिंक और थप्पड़ फिल्म की समीक्षा के माध्यम से बदलते समय की तस्वीर को सामने लाने का प्रयास किया गया है। बीसवीं सदी के उत्तरार्ध तक आते–आते नारी ने पुरुषों की एकाधिकार वाले क्षेत्रों में प्रवेश करके स्वयं को हर प्रकार से सक्षम सिद्ध किया है। इन फिल्मों के माध्यम से अर्थ जगत में भी कदम रखती इस स्त्री ने अपनी संज्ञा बदली है। वर्तमान समय में स्त्री पारिवारिक रिश्तों के साथ–साथ बाहरी क्षेत्रों जैसे– राजनीति, समाज, आर्थिक, विज्ञान, कला आदि में महत्वपूर्ण भूमिकाएं निभा रही है।

सन् 2008 में आई फिल्म फैशन का निर्देशन मधुर भंडारकर ने किया है। उनकी विशेषता यह है कि इस प्रकार के बहुतायत मुद्दे उन्होंने चांदनी बार, इंदु

सरकार, कैलेंडर गर्ल्स, हिरोइन आदि फिल्मों के माध्यम से सिनेजगत में उठाए हैं। फर्श से अर्श तक अभिनेत्री की यात्रा और उसके व्यक्तित्व के विनाश के कारण बखूबी दिखाए गये हैं। 'फैशन' की नायिका मेघना माथुर (प्रियंका चोपड़ा) छोटे शहर की मध्यवर्गीय लड़की है। मेघना मशहूर सुपरमॉडल बनने के सपने को पूरा करने के लिए अति महत्वाकांक्षा की शिकार हो जाती है। जिसका परिणाम बड़ा दुखद होता है। यह पूछने पर कि तुम मॉडल बनने आई हो? 'वह जवाब देती है, 'जी नहीं सुपरमॉडल।' अपने सपनों के लिए वह किसी भी हद तक जाने को तैयार है। मेघना जैसी तमाम लड़कियां जब यथार्थ से टकराती हैं तो पता चलता है।

सन् 2016 में अनिरुद्ध राय चौधरी के निर्देशन में आई फिल्म **'पिंक'** समाज व सिनेमा में स्त्री के बदलते रंग–रूप, वेशभूषा, रहन–सहन, जीवनशैली, निर्णय क्षमता, अधिकारों की मांग व रूढ़िवादी सोच के प्रति उठती आवाज का हिस्सा है। नारी अब अबला व सुकोमल नहीं रही। बड़े–बड़े संघर्षों, चुनौतियों और संकटों में उसकी रचनात्मकता तथा शक्तिरूपा छवि अब विशेष रूप से उजागर होने लगी है। ऐसी ही तीन आधुनिक जीवन जीने वाली लड़कियां मीनल (तापसी पन्नू), फलक (कीर्ति कुल्हारी), एंड्रिया (एंड्रिया) की ये कहानी है जो दिल्ली में किराए के रूम में एक साथ रहती हैं।

सामाजिक मुद्दों पर आधारित घटना प्रधान फिल्मों के निर्देशक के रूप में चर्चित अनुभव सिन्हा की **'मुल्क'** और **'आर्टिकल 15'** के बाद **'थप्पड़' (2020)** तीसरी ऐसी स्त्री चरित्र प्रधान फिल्म है। इसके लिए निर्देशक ने अपने नाम के साथ माता का नाम जोड़कर अनुभव सुशीला सिन्हा कर दिया था। घरेलू वैवाहिक जीवन के साथ–साथ कामकाजी महिला के समक्ष आती चुनौतियों को भी थप्पड़ फिल्म के माध्यम से दिखाया गया है। भारत विभिन्न धर्मों व वर्गों में बँटा देश है। इस कारण इसमें व्याप्त कुरीतियों व नियम–कानूनों की रूपरेखा भी बदलती रहती है। थप्पड़ फिल्म में सभी वर्गों (उच्च, मध्य व निम्न वर्ग) के शोषण का प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप दिखाया गया है।

21वीं सदी की स्त्री बीसवीं सदी की स्त्री से अधिक सशक्त, जागरूक, शिक्षित, और स्वाभिमानी है। हिंदी सिनेमा का समाज से सरोकार बहुत पुराना रहा है। सिनेमा के माध्यम से समाज में लगातार परिवर्तन होते रहे हैं। जिसका प्रभाव स्त्रियों पर भी रहा है। सिनेमा के माध्यम से स्त्री ने अपने जीवन में बहुत बदलाव किए हैं, या सामाजिक स्त्री के माध्यम से सिनेमा ने अपनी विषय–वस्तु में बहुत बदलाव किए हैं। वर्तमान स्त्री विश्व–पटल पर अपना परचम लहरा रही है। फिल्मों का यह बदलता परिदृश्य सुखद अनुभूति देने वाला है। आज का सिनेमा विचारों को गढ़ने और प्रसारित करने में समर्थ है। सशक्त प्रस्तुति ने इसे बहुसंख्य जन तक आवाज बुलन्द करने का साधन और क्रान्ति का माध्यम बनाया है।

संदर्भ ग्रन्थ सूची

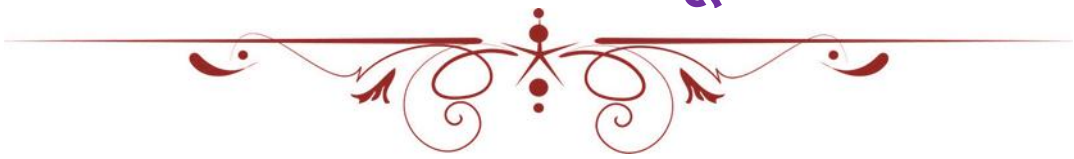

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. अभिनव सिनेमा, प्रचंड प्रवीर, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017।
2. कथा पटकथा, मन्नू भंडारी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013।
3. नए दौर का सिनेमा, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2015।
4. पश्चिम और सिनेमा, दिनेश श्रीनेत, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2012, आवृत्ति 2018।
5. बदलते परिप्रेक्ष्य, नेमिचंद्र जैन, राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2005।
6. बातें बॉलीवुड की, दिलचस्प, वाड्मय प्रकाशन, जयपुर, प्रथम संस्करण 2015।
7. भारतीय सिनेमा विचारों का लोकतंत्र और स्त्री, संपादक मनीष कुमार मिश्रा, कनिष्क पब्लिशिंग हाउस, प्रथम संस्करण 2019।
8. भारतीय सिनेमा में भारतीय संस्कृति, डॉ० उषा कुमारी, के० पी० अमन, प्रकाशन कानपुर, प्रथम संस्करण 2018।
9. भारतीय सिनेमा का अंतर्संबंध, विनोद दास, मेधा बुक्स, दिल्ली, संस्करण 2012
10. भारतीय कला फिल्म आंदोलन का इतिहास, डॉ० हरेंद्र नारायण सिंह, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 2018।
11. मैत्रेयी पुष्पा स्त्री होने की कथा, संपादक विजय बहादुर सिंह, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2011।
12. लेखक का सिनेमा, संपादक गीत चतुर्वेदी, राजकमल प्रकाशन, दरियागंज नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2017।
13. शहर और सिनेमा वाया दिल्ली, मिहिर पांड्या, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2011।

14. साहित्य और सिनेमा बदलते परिवेश में संभावनाएं और चुनौतियां, संपादक डॉ० शैलजा भारद्वाज, चिंतन प्रकाशन, प्रथम संस्करण 2013।

15. सिनेमा साहित्य और संस्कृति, नवल किशोर शर्मा, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर, प्रथम संस्करण 2013।

16. सिनेमा कल, आज, कल, संपादक विनोद भारद्वाज, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2006।

17. सिनेमा और संस्कृति, राही मासूम रजा, वाणी प्रकाशन, संस्करण 2003।

18. सिनेमा में नारी, शमीम खान, ग्रंथ अकादमी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014।

19. सिनेमा और सामाजिक सरोकार, संपादक डॉ दयानंद गौतम, डॉ० कामना महेनद्रु, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2019।

20. समय, सिनेमा और इतिहास, संजीव श्रीवास्तव, प्रकाशन विभाग सूचना और प्रसारण मंत्रालय भारत सरकार, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2014।

21. साहित्य और सिनेमा, संपादक पुरुषोत्तम कुंदे, साहित्य संस्थान, गाजियाबाद, प्रथम संस्करण 2014।

22. सिनेमा और साहित्य का अंतर्संबंध, डॉ० चंद्रकांत विशाल, हिंदी साहित्य निकेतन, बिजनौर उत्तर प्रदेश, प्रथम संस्करण 2014।

23. सिनेमा की सोच संपादक, अजय ब्रह्मात्मज, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, आवृत्ति 2013।

24. साझा–संस्कृति सांप्रदायिक आतंकवाद और हिंदी सिनेमा, जवरीमल्ल पारख, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2012।

25. सिनेमा और साहित्य डॉ० सुधेश राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2010।

26. संपूर्ण पत्रकारिता, डॉ अर्जुन तिवारी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, संस्करण 2014।

27. स्त्रीवाद और महिला उपन्यासकार, डॉ० वैशाली देशपांडे, विकास प्रकाशन, कानपुर, प्रथम संस्करण 2007।

28. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कहानी में नारी चरित्र की अवधारणा, श्रीमती नीलिमा वर्मा, शील पब्लिकेशन, जयपुर, संस्करण 2003।

29. स्वातंत्र्योत्तर हिंदी कथा साहित्य में स्त्री जीवन के विविध आयाम, संपादक अनीता देवी, एकलव्य प्रकाशन, गुजरात, संस्करण 2017।

30. हिंदी सिनेमा का समाजशास्त्र, जवरीमल्ल पारख, ग्रंथ शिल्पी, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2006।

31. हिंदी सिनेमा का सच, संपादक मृत्युंजय, समकालीन सृजन प्रकाशन वर्ष 1997।

32. हिंदी सिनेमा की यात्रा, संपादक पंकज शर्मा, अनन्य प्रकाशन, संस्करण 2018।

33. हिंदी पत्रकारिता का विकास, एन०सी०पंत, राधा पब्लिकेशन, नई दिल्ली, संस्करण 2002।

34. हिंदी सिनेमा आदि से अनंत, भाग 1, प्रहलाद अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2014।

35. हिंदी सिनेमा आदि से अनंत, भाग 4, प्रहलाद अग्रवाल, साहित्य भंडार, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण, 2014।

36. हिंदी सिनेमा के 100 वर्ष, दिलचस्प, सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2016।

37. हिंदी फिल्मों का संक्षिप्त इतिहास, दिलचस्प, भारतीय पुस्तक परिषद, नई दिल्ली, संस्करण 2014।

38. हॉलीवुड बॉलीवुड, संपादक अनवर जमाल सरजी, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2006, आवृत्ति 2011।

39. हिंदी सिनेमा समकालीन साहित्य और सामाजिक आलोचना की पत्रिका, संपादक मृत्युंजय, अंक–17, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, वर्ष 1997।

40. हिंदी साहित्य और सिनेमा, विवेक दुबे, संजय प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2009।

41. हिंदी साहित्य का इतिहास, रामचंद्र शुक्ल, अशोक प्रकाशन, दिल्ली, संस्करण 2010।

42. 23 लेखिकाएं और राजेंद्र यादव, संपादन गीता श्री, किताबघर प्रकाशन, नई दिल्ली, संस्करण 2013।

पत्र–पत्रिकाएं

- https://ni-m-wikipedia-org
- www-sahitykunj-net
- www-bharatdarshan-co-nz
- www-abhiyaki-hindi-com
- www-vartmansahity-com
- www-tadbhav-in
- www-pakhi-in
- www-hindisamay-com
- www-gadayakosh-org

शब्दकोश

1. उर्दू हिंदी शब्दकोश, संकलनकर्ता मो० मुस्तफा, उत्तर प्रदेश, हिंदी संस्थान, लखनऊ।

2. बृहत् हिंदी कोश, संपादक कालिका प्रसाद, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।

3. बृहत् अंग्रेजी हिंदी कोश, संपादक डॉ० हरदेव बाहरी, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।

4. भाषा विज्ञान कोश, डॉ० भोलानाथ तिवारी, ज्ञानमंडल लिमिटेड, वाराणसी।

5. हिंदी शब्दकोश, डॉ० लक्ष्मीसागर वार्ष्णेय, भारतीय साहित्य प्रकाशन, मेरठ।